॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

अवतरणिका—

*श्रीभगवान्ने सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें '**दुष्कृतिनो मूढाः आसुरं भावमाश्रिताः मां न प्रपद्यन्ते**' (बुरे कर्म करनेवाले तथा आसुरी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरा भजन नहीं करते) पदोंसे आसुरी सम्पत्तिवालोंका और सोलहवें श्लोकमें '**सुकृतिनः मां भजन्ते**' (पुण्यकर्मा लोग मेरा भजन करते हैं) पदोंसे दैवी सम्पत्तिवालोंका संकेतरूपसे वर्णन किया। सातवें अध्यायके अन्तिम दो श्लोकोंपर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये। उन प्रश्नोंके उत्तरमें आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।*

*भगवान्ने सातवें अध्यायके आरम्भमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेके लिये नवें अध्यायका विषय आरम्भ किया । इस नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भी '**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः**' पदोंसे आसुरी सम्पदावालोंका और तेरहवें श्लोकमें '**दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः मां भजन्ते**' पदोंसे दैवी सम्पदावालोंका संक्षेपसे वर्णन करके दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञान-विज्ञानका विषय कहा।*

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके बाद भगवान्को दैवी-आसुरी-सम्पदाका विस्तारसे वर्णन करना चाहिये था, पर भगवान्के प्रभावसे प्रभावित होकर अर्जुनने भगवान्की स्तुति की एवं पुनः विभूति कहनेके लिये उनसे प्रार्थना की। विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें अर्जुनसे कहा कि 'तुझे अधिक जाननेसे क्या मतलब? मैं तो सारे संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ।' इसपर उस स्वरूपको (जिसके एक अंशमें सारा संसार स्थित है) देखनेके लिये उत्सुक हुए अर्जुनने ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की।

*अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें अनन्य-भक्तिकी महिमा एवं उसका स्वरूप बताया। इसपर सगुण और निर्गुण-उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें अर्जुनने बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें प्रश्न किया। अतः भगवान्ने बारहवें अध्यायमें सगुण-उपासकोंका वर्णन करके तेरहवें अध्यायसे चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक निर्गुण-विषयका वर्णन किया। फिर अर्जुनने चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके लक्षण, आचरण एवं गुणातीत होनेका उपाय पूछा। उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान्ने छब्बीसवें श्लोकमें '**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**' पदोंसे अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया अर्थात् अव्यभिचारसे दैवी सम्पत्तिका और व्यभिचारसे आसुरी सम्पत्तिका संकेत किया। वह अव्यभिचारी भक्ति कैसे प्राप्त हो—यह बतानेके लिये पन्द्रहवें अध्यायका आरम्भ हुआ।*

*पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने '**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' पदोंसे आसुरी सम्पत्तिके कारणरूप 'संग'-(संसारकी आसक्ति-) का त्याग करके असंगतासे प्रकट होनेवाली दैवी सम्पत्तिकी बात कही। फिर चौथे श्लोकमें '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' पदोंसे शरणागतिरूप दैवी सम्पत्तिका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो शरण नहीं होते, उन आसुरी सम्पत्तिवालोंका संकेत किया। फिर उन्नीसवें श्लोकमें '**स सर्वविद् असम्मूढः मां सर्वभावेन भजति**' पदोंसे दैवी सम्पदावालोंका अर्थात् अधिकारियोंका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो भगवान्का भजन नहीं करते, उन आसुरी सम्पदावालोंका अर्थात् अनधिकारियोंका वर्णन किया।*

इस प्रकार अर्जुनके अन्य प्रश्नोंके कारण अबतक भगवान्को दैवी और आसुरी सम्पदापर विस्तारसे कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अब अर्जुनका कोई प्रश्न न रहनेसे भगवान् इस सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

अभयम्	= भयका सर्वथा अभाव,		योगमें दृढ़ स्थिति,	**स्वाध्यायः**	= स्वाध्याय,
सत्त्वसंशुद्धिः	= अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि,	**च**	= और	**तपः**	= कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना
ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः	= ज्ञानके लिये	**दानम्**	= सात्त्विक दान,	**च**	= और
		दमः	= इन्द्रियोंका दमन,	**आर्जवम्**	= शरीर-मन-वाणीकी सरलता।
		यज्ञः	= यज्ञ,		

व्याख्या—[पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है।' इस प्रकार एकमात्र भगवान्का उद्देश्य होनेपर साधकमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होने लग जाती है। अतः भगवान् पहले तीन श्लोकोंमें क्रमशः भाव, आचरण और प्रभावको लेकर दैवी-सम्पत्तिका वर्णन करते हैं।]

'अभयम्'[1]—अनिष्टकी आशंकासे मनुष्यके भीतर जो घबराहट होती है, उसका नाम भय है और उस भयके सर्वथा अभावका नाम 'अभय' है।

भय दो रीतिसे होता है—(१) बाहरसे और (२) भीतरसे।

(१) बाहरसे आनेवाला भय—

(क) चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियोंसे जो भय होता है, वह बाहरका भय है। यह भय शरीरनाशकी आशंकासे ही होता है। परन्तु जब यह अनुभव हो जाता है कि यह शरीर नाशवान् है और जानेवाला ही है, तो फिर भय नहीं रहता।

बीड़ी-सिगरेट, अफीम, भाँग, शराब आदिके व्यसनोंको छोड़नेका एवं व्यसनी मित्रोंसे अपनी मित्रता टूटनेका जो भय होता है, वह मनुष्यकी अपनी कायरतासे ही होता है। कायरता छोड़नेसे यह भय नहीं रहता।

(ख) अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्य-पालन करते हुए उसमें भगवान्की आज्ञाके विरुद्ध कोई काम न हो जाय; हमें विद्या पढ़ानेवाले, अच्छी शिक्षा देनेवाले आचार्य, गुरु, सन्त-महात्मा, माता-पिता आदिके वचनोंकी आज्ञाकी अवहेलना न हो जाय; हमारे द्वारा शास्त्र और कुलमर्यादाके विरुद्ध कोई आचरण न बन जाय—इस प्रकारका भय भी बाहरी भय कहलाता है। परन्तु यह भय वास्तवमें भय नहीं है, प्रत्युत यह तो अभय बनानेवाला भय है। ऐसा भय तो साधकके जीवनमें होना ही चाहिये। ऐसा भय होनेसे ही वह अपने मार्गपर ठीक तरहसे चल सकता है। कहा भी है—

हरि-डर, गुरु-डर, जगत-डर, डर करनी में सार।
रज्जब डर्‌या सो ऊबर्‌या, गाफिल खायी मार॥

(२) भीतरसे पैदा होनेवाला भय—

(क) मनुष्य जब पाप, अन्याय, अत्याचार आदि निषिद्ध आचरण करना चाहता है, तब (उनको करनेकी भावना मनमें आते ही) भीतरसे भय पैदा होता है। मनुष्य निषिद्ध आचरण तभीतक करता है, जबतक उसके मनमें 'मेरा शरीर बना रहे, मेरा मान-सम्मान होता रहे, मेरेको सांसारिक भोग-पदार्थ मिलते रहें', इस प्रकार सांसारिक जड वस्तुओंकी प्राप्तिका और उनकी रक्षाका उद्देश्य रहता है[2]। परन्तु जब मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य चिन्मय-तत्त्वको

१-यहाँ दैवी सम्पत्तिमें सबसे पहले 'अभयम्' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जो भगवान्के शरण होकर सर्वभावसे भगवान्का भजन करता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (वाल्मीकि० ६। १८। ३३)

२-भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥
(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

प्राप्त करनेका हो जाता है[१], तब उसके द्वारा अन्याय, दुराचार छूट जाते हैं और वह सर्वथा अभय हो जाता है। कारण कि उसके लक्ष्य परमात्मतत्त्वमें कभी कमी नहीं आती और वह कभी नष्ट नहीं होता।

(ख) जब मनुष्यके आचरण ठीक नहीं होते और वह अन्याय, अत्याचार आदिमें लगा रहता है, तब उसको भय लगता है। जैसे, रावणसे मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि सभी डरते थे, पर वही रावण जब सीताका हरण करनेके लिये जाता है, तब वह डरता है। ऐसे ही कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तो उसका पाण्डव-सेनापर कुछ भी असर नहीं हुआ (गीता—पहले अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), पर जब पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तब कौरव-सेनाके हृदय विदीर्ण हो गये (पहले अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह कि अन्याय, अत्याचार करनेवालोंके हृदय कमजोर हो जाते हैं, इसलिये वे भयभीत होते हैं। जब मनुष्य अन्याय आदिको छोड़कर अपने आचरणों एवं भावोंको शुद्ध बनाता है, तब उसका भय मिट जाता है।

(ग) मनुष्य-शरीर प्राप्त करके यह जीव जबतक करनेयोग्यको नहीं करता, जाननेयोग्यको नहीं जानता और पानेयोग्यको नहीं पाता, तबतक वह सर्वथा अभय नहीं हो सकता; उसके जीवनमें भय रहता ही है।

भगवान्‌की तरफ चलनेवाला साधक भगवान्‌पर जितना-जितना अधिक विश्वास करता है और उनके आश्रित होता है, उतना-ही-उतना वह अभय होता चला जाता है। उसमें स्वत: यह विचार आता है कि मैं तो परमात्माका अंश हूँ; अत: कभी नष्ट होनेवाला नहीं हूँ, तो फिर भय किस बातका?[२] और संसारके अंश शरीर आदि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, तो फिर भय किस बातका? ऐसा विवेक स्पष्टरूपसे प्रकट होनेपर भय स्वत: नष्ट हो जाता है और साधक सर्वथा अभय हो जाता है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेपर, भगवान्‌को ही अपना माननेपर शरीर, कुटुम्ब आदिमें ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे मरनेका भय नहीं रहता और साधक अभय हो जाता है।

'सत्त्वसंशुद्धिः'—अन्त:करणकी सम्यक् शुद्धिको सत्त्वसंशुद्धि कहते हैं। सम्यक् शुद्धि क्या है? संसारसे राग-रहित होकर भगवान्‌में अनुराग हो जाना ही अन्त:करणकी सम्यक् शुद्धि है। जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य, लक्ष्य केवल एक परमात्माकी प्राप्तिका हो जाता है, तब अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। कारण कि नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे ही अन्त:करणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन तरहके दोष आते हैं। शास्त्रोंमें मल-दोषको दूर करनेके लिये निष्कामभावसे कर्म (सेवा), विक्षेप-दोषको दूर करनेके लिये उपासना और आवरण-दोषको दूर करनेके लिये ज्ञान बताया है। यह होनेपर भी अन्त:करणकी शुद्धिके लिये सबसे बढ़िया उपाय है—अन्त:करणको अपना न मानना।

साधकको पुराने पापको दूर करनेके लिये या किसी परिस्थितिके वशीभूत होकर किये गये नये पापको दूर करनेके लिये अन्य प्रायश्चित्त करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है। उसको तो चाहिये कि वह जो साधन कर रहा है, उसीमें उत्साह और तत्परतापूर्वक लगा रहे। फिर उसके ज्ञात-अज्ञात सब पाप दूर हो जायँगे और अन्त:करण स्वत: शुद्ध हो जायगा।

साधकमें ऐसी एक भावना बन जाती है कि साधन-भजन करना अलग काम है और व्यापार-धंधा आदि करना अलग काम है अर्थात् ये दोनों अलग-अलग विभाग हैं। इसलिये व्यापार आदि व्यवहारमें झूठ-कपट आदि तो करने ही पड़ते हैं—ऐसी जो छूट ली जाती है, उससे अन्त:करण बहुत ही अशुद्ध होता है। साधनके साथ-साथ जो असाधन होता रहता है, उससे साधनमें जल्दी उन्नति नहीं होती। इसलिये साधकको सदा सावधान रहना चाहिये अर्थात् नया पाप कभी न बने—ऐसी सावधानी सदा-सर्वदा बनी रहनी चाहिये।

'भोगोंमें रोगका भय, ऊँचे कुलमें गिरनेका भय, धनमें राजाका भय, मानमें दीनताका भय, बलमें शत्रुका भय, रूपमें बुढ़ापेका भय, शास्त्रमें वाद-विवादका भय, गुणमें दुर्जनका भय और शरीरमें मृत्युका भय है। इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण वस्तुएँ भयावह हैं, एक वैराग्य ही भयसे रहित है।'

तात्पर्य यह है कि ये सांसारिक वस्तुएँ कहीं नष्ट न हो जायँ—इसका मनुष्यको सदा भय रहता है, इसलिये वह अभय नहीं हो पाता।

१-उद्देश्य तो पहलेसे ही बना हुआ है। उसके बाद हमें मनुष्य-शरीर मिला है। अत: उद्देश्यको केवल पहचानना है, बनाना नहीं है।

२-राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय। अविनाशी का बालका, मरे न मारा जाय॥

साधक भूलसे किये हुए दुष्कर्मोंके अनुसार अपनेको दोषी मान लेता है और अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिको भी दोषी मान लेता है, जिससे उसका अन्त:करण अशुद्ध हो जाता है। उस अशुद्धिको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह भूलसे किये हुए दुष्कर्मको पुन: कभी न करनेका दृढ़ व्रत ले ले तथा अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिके अपराधको क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर दे और भगवान्‌से प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मेरा जो कुछ बुरा हुआ है, वह तो मेरे दुष्कर्मोंका ही फल है। वह बेचारा तो मुफ्तमें ही ऐसा कर बैठा है। उसका इसमें कोई दोष नहीं है। आप उसे क्षमा कर दें।' ऐसा करनेसे अन्त:करण शुद्ध हो जाता है।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'—ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना अर्थात् परमात्मतत्त्वका जो ज्ञान (बोध) है, वह चाहे सगुणका हो या निर्गुणका, उस ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना आवश्यक है। योगका अर्थ है—सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें, मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें, रोग-नीरोगतामें सम रहना अर्थात् अन्त:करणमें हर्ष-शोकादि न होकर निर्विकार रहना।

'दानम्'—लोकदृष्टिमें जिन वस्तुओंको अपना माना जाता है, उन वस्तुओंको सत्पात्रका तथा देश, काल, परिस्थिति आदिका विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरोंको वितीर्ण कर देना 'दान' है। दान कई तरहके होते हैं; जैसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान, वस्त्रदान आदि। इन सबमें अन्नदान प्रधान है। परन्तु इससे भी अभयदान प्रधान (श्रेष्ठ) है[1]। उस अभयदानके दो भेद होते हैं—

(१) संसारकी आफतसे, विघ्नोंसे, परिस्थितियोंसे भयभीत हुएको अपनी शक्ति, सामर्थ्यके अनुसार भयरहित करना, उसे आश्वासन देना, उसकी सहायता करना। यह अभयदान उसके शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको लेकर होता है।

(२) संसारमें फँसे हुए व्यक्तिको जन्म-मरणसे रहित करनेके लिये भगवान्‌की कथा आदि सुनाना[2]। गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंको एवं उनके भावोंको सरल भाषामें छपवाकर सस्ते दामोंमें लोगोंको देना अथवा कोई समझना चाहे तो उसको समझाना, जिससे उसका कल्याण हो जाय। ऐसे दानसे भगवान् बहुत राजी होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़सठवाँ-उनहत्तरवाँ श्लोक); क्योंकि भगवान् ही सबमें परिपूर्ण हैं। अत: जितने अधिक जीवोंका कल्याण होता है, उतने ही अधिक भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ अभयदान है। इसमें भी भगवत्-सम्बन्धी बातें दूसरोंको सुनाते समय साधक वक्ताको यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता न माने, प्रत्युत इसमें भगवान्‌की कृपा माने कि भगवान् ही श्रोताओंके रूपमें आकर मेरा समय सार्थक कर रहे हैं।

ऊपर जितने दान बताये हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़कर साधक ऐसा माने कि अपने पास वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌ने दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मुझे निमित्त बनाकर दी है। अत: भगवत्प्रीत्यर्थ आवश्यकतानुसार जिस-किसीको जो कुछ दिया जाय, वह सब उसीका समझकर उसे देना 'दान' है।

'दमः'—इन्द्रियोंको पूरी तरह वशमें करनेका नाम 'दम' है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों, अन्त:करण और शरीरसे कोई भी प्रवृत्ति शास्त्रनिषिद्ध नहीं होनी चाहिये। शास्त्रविहित प्रवृत्ति भी अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही होनी चाहिये। इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे इन्द्रियलोलुपता, आसक्ति और पराधीनता नहीं रहती एवं शरीर और इन्द्रियोंके बर्ताव शुद्ध, निर्मल होते हैं।

साधकका उद्देश्य इन्द्रियोंके दमनका होनेसे अकर्तव्यमें तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं और कर्तव्यमें स्वाभाविक

१-न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्। यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥
(पंचतन्त्र, मित्रभेद ३१३)

'गोदान, भूमिदान और अन्नदान भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि अभयदान है। विद्वान्‌लोग अभयदानको सब दानोंसे श्रेष्ठ कहते हैं।'

२-तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्। श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९)

'हे प्रभो! आपका कथामृत संसारमें जो संतप्त प्राणी हैं, उनको जीवन देनेवाला, शान्ति देनेवाला है, अच्छे-अच्छे महापुरुष भी उसका हृदयसे वर्णन करते हैं, वह सम्पूर्ण पापोंका अर्थात् भगवद्विमुखताका नाश करनेवाला है, कानोंमें पड़ते ही सब तरहसे मंगल-ही-मंगल देनेवाला है, संत-महापुरुषोंके द्वारा उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। ऐसे कथामृतका पृथ्वीपर जो कथन करते हैं, वे संसारको बहुत विशेषतासे दान देनेवाले हैं अर्थात् संसारका सबसे अधिक उपकार, हित करनेवाले हैं।'

प्रवृत्ति होती है, तो उसमें स्वार्थ, अभिमान, आसक्ति, कामना आदि दोष नहीं रहते। यदि कभी किसी कार्यमें स्वार्थभाव आ भी जाता है, तो वह उसका दमन करता चला जाता है, जिससे अशुद्धि मिटती जाती है और शुद्धि होती चली जाती है और आगे चलकर उसका दम अर्थात् इन्द्रिय-संयम सिद्ध हो जाता है।

'यज्ञः'—**'यज्ञ'** शब्दका अर्थ आहुति देना होता है। अतः अपने वर्णाश्रमके अनुसार होम, बलिवैश्वदेव आदि करना 'यज्ञ' है। इसके सिवाय गीताकी दृष्टिसे अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार जिस-किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितकी भावनासे या भगवत्प्रीत्यर्थ करना 'यज्ञ' है। इसके अतिरिक्त जीविका-सम्बन्धी व्यापार, खेती आदि तथा शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, देना-लेना आदि सभी क्रियाएँ भगवत्प्रीत्यर्थ करना 'यज्ञ' है। ऐसे ही माता-पिता, आचार्य, गुरुजन आदिकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, उनको मन, वाणी, तन और धनसे सुख पहुँचाकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और गौ, ब्राह्मण, देवता, परमात्मा आदिका पूजन करना, सत्कार करना—ये सभी 'यज्ञ' हैं।

'स्वाध्यायः'—अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये भगवन्नामका जप और गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदिके पठन-पाठनका नाम 'स्वाध्याय' है। वास्तवमें तो **'स्वस्य अध्यायः (अध्ययनम्) स्वाध्यायः'** के अनुसार अपनी वृत्तियोंका, अपनी स्थितिका ठीक तरहसे अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। इसमें भी साधकको न तो अपनी वृत्तियोंसे अपनी स्थितिकी कसौटी लगानी है और न वृत्तियोंके अधीन अपनी स्थिति ही माननी है। कारण कि वृत्तियाँ तो हरदम आती-जाती रहती हैं, बदलती रहती हैं। तो फिर स्वाभाविक यह प्रश्न उठता है कि क्या हम अपनी वृत्तियोंको शुद्ध न करें? वास्तवमें तो साधकका कर्तव्य वृत्तियोंको शुद्ध करनेका ही होना चाहिये और वह शुद्धि अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियोंको अपना न माननेसे बहुत जल्दी हो जाती है; क्योंकि उनको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है। साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे अपना स्वरूप कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं। केवल वृत्तियोंके अशुद्ध होनेसे ही उसका यथार्थ अनुभव नहीं होता।

'तपः'—भूख-प्यास, सरदी-गरमी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर इस तपमें भूख-प्यास आदिको जानकर सहते हैं। वास्तवमें साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना ही 'तप' है;* क्योंकि इस तपमें पहले किये गये पापोंका नाश होता है और सहनेवालेमें सहनेकी एक नयी शक्ति, एक नया बल आता है।

साधकको सावधान रहना चाहिये कि वह उस तपोबलका प्रयोग दूसरोंको वरदान देनेमें, शाप देने या अनिष्ट करनेमें तथा अपनी इच्छापूर्ति करनेमें न लगाये, प्रत्युत उस बलको अपने साधनमें जो बाधाएँ आती हैं, उनको प्रसन्नतासे सहनेकी शक्ति बढ़ानेमें ही लगाये।

साधक जब साधन करता है, तब वह साधनमें कई तरहसे विघ्न मानता है। वह समझता है कि मुझे एकान्त मिले तो मैं साधन कर सकता हूँ, वायुमण्डल अच्छा हो तो साधन कर सकता हूँ इत्यादि। इन सब अनुकूलताओंकी चाहना न करना अर्थात् उनके अधीन न होना भी 'तप' है। साधकको अपना साधन परिस्थितियोंके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बना लेना चाहिये। साधकको अपनी चेष्टा तो एकान्तमें साधन करनेकी करनी चाहिये, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थितिको भगवान्‌की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साहसे प्रसन्नतापूर्वक साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

'आर्जवम्'—सरलता, सीधेपनको 'आर्जव' कहते हैं। यह सरलता साधकका विशेष गुण है। यदि साधक यह चाहता है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा व्यवहार ठीक नहीं होगा तो लोग मुझे बढ़िया नहीं मानेंगे, इसलिये मुझे सरलतासे रहना चाहिये, तो यह एक प्रकारका कपट ही है। इससे साधकमें बनावटीपन आता है, जब कि साधकमें सीधा, सरल भाव होना चाहिये। सीधा, सरल होनेके कारण लोग उसको मूर्ख, बेसमझ कह सकते हैं, पर उससे साधककी कोई हानि नहीं है। अपने उद्धारके लिये

*** आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्। यथाप्राप्तं सहेत्सर्वं सा तपस्योत्तमोत्तमा॥ (बोधसार)**

'प्रारब्धवश परिस्थितिरूपसे जो कुछ आ जाय, उसका स्वागत करे, जानेवालेको रोके नहीं और जो जैसे प्राप्त हो, उसे वैसे ही सहन करे, यही उत्तम-से-उत्तम तप है।'

तो सरलता बड़े कामकी चीज है—

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
'नारायन' ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥

इसलिये साधकके शरीर, वाणी और मनके व्यवहारमें कोई बनावटीपन नहीं रहना चाहिये*। उसमें स्वाभाविक सीधापन हो।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा = अहिंसा, **सत्यम्** = सत्यभाषण, **अक्रोधः** = क्रोध न करना, **त्यागः** = संसारकी कामनाका त्याग, **शान्तिः** = अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, **अपैशुनम्** = चुगली न करना, **भूतेषु** = प्राणियोंपर **दया** = दया करना, **अलोलुप्त्वम्** = सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, **मार्दवम्** = अन्तःकरणकी कोमलता, **ह्रीः** = अकर्तव्य करनेमें लज्जा, **अचापलम्** = चपलताका अभाव।

व्याख्या—'**अहिंसा**'—शरीर, मन, वाणी, भाव आदिके द्वारा किसीका भी किसी प्रकारसे अनिष्ट न करनेको तथा अनिष्ट न चाहनेको 'अहिंसा' कहते हैं। वास्तवमें सर्वथा अहिंसा तब होती है, जब मनुष्य संसारकी तरफसे विमुख होकर परमात्माकी तरफ ही चलता है। उसके द्वारा 'अहिंसा' का पालन स्वतः होता है। परन्तु जो रागपूर्वक, भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है; वह कभी सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता। वह अपना पतन तो करता ही है, जिन पदार्थों आदिको वह भोगता है, उनका भी नाश करता है।

जो संसारके सीमित पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपने) न होनेपर भी व्यक्तिगत मानकर सुखबुद्धिसे भोगता है, वह हिंसा ही करता है। कारण कि समष्टि संसारसे सेवाके लिये मिले हुए पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिमेंसे किसीको भी अपने भोगके लिये व्यक्तिगत मानना हिंसा ही है। यदि मनुष्य समष्टि संसारसे मिली हुई वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिको संसारकी ही मानकर निर्ममतापूर्वक संसारकी सेवामें लगा दे, तो वह हिंसासे बच सकता है और वही अहिंसक हो सकता है।

जो सुख और भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है, उसको देखकर, जिनको वे भोग-पदार्थ नहीं मिलते—ऐसे अभावग्रस्तोंको दुःख-संताप होता है। यह उनकी हिंसा ही है; क्योंकि भोगी व्यक्तिमें अपना स्वार्थ और सुख-बुद्धि रहती है तथा दूसरोंके दुःखकी लापरवाही रहती है। परन्तु जो संत-महापुरुष केवल दूसरोंका हित करनेके लिये ही जीवन-निर्वाह करते हैं, उनको देखकर किसीको दुःख हो भी जायगा, तो भी उनको हिंसा नहीं लगेगी; क्योंकि वे भोग-बुद्धिसे जीवन-निर्वाह करते ही नहीं—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता ४। २१)।

केवल परमात्माकी ओर चलनेवालेके द्वारा हिंसा नहीं होती; क्योंकि वह भोग-बुद्धिसे पदार्थ आदिका सेवन नहीं करता। परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक शरीर, मन, वाणीके द्वारा कभी किसीको दुःख नहीं पहुँचाता। यदि उसकी बाह्य क्रियाओंसे किसीको दुःख होता है, तो यह दुःख उसके खुदके स्वभावसे ही होता है। साधककी तो भीतरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख देनेकी भावना नहीं होनी चाहिये। उसका भाव निरन्तर सबका हित करनेका होना चाहिये—'**सर्वभूतहिते रताः।**'

साधककी साधनामें कोई बाधा डाल दे, तो उसे उसपर क्रोध नहीं आता और न उसके मनमें उसके अहितकी भावना (हिंसा) ही पैदा होती है। हाँ, परमात्माकी ओर चलनेमें बाधा पड़नेसे उसको दुःख हो सकता है, पर वह दुःख भी सांसारिक दुःखकी तरह नहीं होता। साधकको बाधा लगती है, तो वह भगवान्‌को पुकारता है कि

* **मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥**

'महात्माओंके मन, वचन और कर्म—तीनोंमें एक ही बात होती है; परन्तु दुरात्माओंके मन, वचन और कर्म—तीनोंमें ही अलग-अलग बातें होती हैं।'

'हे नाथ! मेरी कहाँ भूल हुई, जिससे बाधा लग रही है!' ऐसा विचार करके उसे रोना आ सकता है; पर बाधा डालनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष नहीं हो सकता। बाधा लगनेपर साधकमें तत्परता और सावधानी आती है। यदि उसमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष होता है, तो जितने अंशमें द्वेष-वृत्ति रहती है, उतने अंशमें तत्परताकी कमी है, अपने साधनका आग्रह है।

साधकमें एक तत्परता होती है और एक आग्रह होता है। तत्परता होनेसे साधनमें रुचि रहती है और आग्रह होनेसे साधनमें राग रहता है। रुचि होनेसे अपने साधनमें कहाँ-कहाँ कमी है, उसका ज्ञान होता है और उसे दूर करनेकी शक्ति आती है तथा उसे दूर करनेकी चेष्टा भी होती है। परन्तु राग होनेसे साधनमें विघ्न डालनेवालेके साथ द्वेष होनेकी सम्भावना रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो साधनमें हमारी रुचि कम होनेसे ही दूसरा हमारे साधनमें बाधा डालता है। अगर साधनमें हमारी रुचि कम न हो तो दूसरा हमारे साधनमें बाधा नहीं डालेगा, प्रत्युत यह सोचकर उपेक्षा कर देगा कि यह जिद्दी है, मानेगा नहीं; अतः जैसा चाहे, वैसा करने दो।

जैसे पुष्पसे सुगन्ध स्वतः फैलती है, ऐसे ही साधकसे स्वतः पारमार्थिक परमाणु फैलते हैं और वायुमण्डल शुद्ध होता है। इससे उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक प्राणिमात्रका बड़ा भारी उपकार एवं हित होता रहता है। परन्तु जो अपने दुर्गुण-दुराचारोंके द्वारा वायुमण्डलको अशुद्ध करता रहता है, वह प्राणिमात्रकी हिंसा करनेका अपराधी होता है।

'**सत्यम्**'—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे जैसा सुना, देखा, पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम—वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना 'सत्य' है।

सत्यस्वरूप परमात्माको पाने और जाननेका एकमात्र उद्देश्य हो जानेपर साधकके द्वारा मन, वाणी और क्रियासे असत्य-व्यवहार नहीं हो सकता। उसके द्वारा सत्य-व्यवहार, सबके हितका व्यवहार ही होता है। जो सत्यको जानना चाहता है, वह सत्यके ही सम्मुख रहता है। इसलिये उसके मन-वाणी-शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं, वे सभी उत्साहपूर्वक सत्यकी ओर चलनेके लिये ही होती हैं।

'**अक्रोधः**'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्तः-करणमें जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'क्रोध' है। पर जबतक अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करनेकी भावना पैदा नहीं होती, तबतक वह 'क्षोभ' है, क्रोध नहीं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधन करनेवाला मनुष्य अपना अपकार करनेवालेका भी अनिष्ट नहीं करना चाहता। वह इस बातको समझता है कि अनिष्ट करनेवाला व्यक्ति वास्तवमें हमारा अनिष्ट कभी कर ही नहीं सकता। यह जो हमें दुःख देनेके लिये आया है, यह हमने पहले कोई गलती की है, उसीका फल है। अतः यह हमें शुद्ध कर रहा है, निर्मल कर रहा है। जैसे, डॉक्टर किसी रुग्ण अंगको काटता है, तो उसपर रोगी क्रोध नहीं करता, प्रत्युत उसे अच्छा मानता है, ठीक मानता है। उसके रुग्ण अंगको काटना तो उसे ठीक करनेके लिये ही है। ऐसे ही साधकको कोई अहितकी भावनासे किसी तरहसे दुःख देता है, तो उसमें यह भाव पैदा होता है कि वह मेरेको शुद्ध, निर्मल बनानेमें निमित्त बन रहा है; अतः उसपर क्रोध कैसे? वह तो मेरा उपकार कर रहा है और भविष्यके लिये सावधान कर रहा है कि जो गलती पहले की है, आगे वैसी गलती न करूँ।

जो लोग साधकका हित करनेवाले हैं, उसकी सेवा करनेवाले हैं, वे तो साधकको सुख पहुँचाकर उसके पुण्योंका नाश करते हैं। पर साधकको उनपर (उसके पुण्योंका नाश करनेके कारण) क्रोध नहीं आता। उनपर साधकको यह विचार आता है कि वे जो मेरी सेवा करते हैं, मेरे अनुकूल आचरण करते हैं, यह तो उनकी सज्जनता है, उनका श्रेष्ठ भाव है। परन्तु पुण्योंका नाश तो तब होता है, जब मैं उनकी सेवासे सुख भोगता हूँ। इस प्रकार साधककी दृष्टि सेवा करनेवालोंकी अच्छाई, शुद्ध नीयतपर ही जाती है। अतः साधकको न तो दुःख देनेवालोंपर क्रोध होता है और न सुख देनेवालोंपर।

'**त्यागः**'—संसारसे विमुख हो जाना ही असली त्याग है। साधकके जीवनमें बाहरका और भीतरका—दोनोंका ही त्याग होना चाहिये। जैसे, बाहरसे पाप, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदिका और बाहरी सुख-आराम आदिका त्याग भी करना चाहिये, और भीतरसे सांसारिक नाशवान् वस्तुओंकी कामनाका त्याग भी करना चाहिये। इसमें भी बाहरके त्यागकी अपेक्षा भीतरकी कामनाका त्याग श्रेष्ठ है। कामनाका सर्वथा त्याग होनेपर तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

साधकके लिये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंकी कामना ही वास्तवमें सबसे ज्यादा बाधक होती है। अतः कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। त्याग कब होता है?

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मप्राप्तिका ही हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ दूर होती चली जाती हैं। कारण कि सांसारिक भोग और संग्रह साधकका लक्ष्य नहीं होता। अत: वह सांसारिक भोग और संग्रहकी कामनाका त्याग करते हुए अपने साधनमें आगे बढ़ता रहता है।

'शान्तिः'—अन्त:करणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना 'शान्ति' है; क्योंकि संसारके साथ राग-द्वेष करनेसे ही अन्त:करणमें अशान्ति आती है और उनके न होनेसे अन्त:करण स्वाभाविक ही शान्त, प्रसन्न रहता है।

अनुकूलतासे पुराने पुण्योंका नाश होता है और उसमें अपना स्वभाव सुधरनेकी अपेक्षा बिगड़नेकी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु प्रतिकूलता आनेपर पापोंका नाश होता है और अपने स्वभावमें भी सुधार होता है। इस बातको समझनेपर प्रतिकूलतामें भी स्वत: शान्ति बनी रहती है।

किसी परिस्थिति आदिको लेकर साधकमें कभी राग-द्वेषका भाव हो भी जाता है तो उसके मनमें अशान्ति पैदा हो जाती है और अशान्ति होते ही वह तुरंत सावधान हो जाता है कि राग-द्वेषपूर्वक कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस विचारसे फिर शान्ति आ जाती है और समय पाकर स्थिर हो जाती है।

'अपैशुनम्'—किसीके दोषको दूसरेके आगे प्रकट करके दूसरोंमें उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना पिशुनता है और इसका सर्वथा अभाव ही 'अपैशुन' है। परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधक कभी किसीकी चुगली नहीं करता। ज्यों-ज्यों उसका साधन आगे बढ़ता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी दोषदृष्टि और द्वेषवृत्ति मिटकर दूसरोंके प्रति उसका स्वत: ही अच्छा भाव होता चला जाता है। उसके मनमें यह विचार भी नहीं आता कि मैं साधन करनेवाला हूँ और ये दूसरे (साधन न करनेवाले) साधारण मनुष्य हैं, प्रत्युत तत्परतासे साधन होनेपर उसे जैसी अपनी स्थिति (जडतासे सम्बन्ध न होना) दिखायी देती है, वैसी ही दूसरोंकी स्थिति भी दिखायी देती है कि वास्तवमें उनका भी जडतासे सम्बन्ध नहीं है, केवल सम्बन्ध माना हुआ है। इस तरह जब उसकी दृष्टिमें किसीका भी जडतासे सम्बन्ध है ही नहीं, तो वह किसीका दोष किसीके प्रति क्यों प्रकट करेगा?

भक्तिमार्गवाला सर्वत्र अपने प्रभुको देखता है, ज्ञानमार्गवाला केवल अपने स्वरूपको ही देखता है और कर्मयोगमार्गवाला अपने सेव्यको देखता है। इसलिये साधक किसीकी बुराई, निन्दा, चुगली आदि कर ही कैसे सकता है?

'दया भूतेषु'—दूसरोंको दु:खी देखकर उनका दु:ख दूर करनेकी भावनाको 'दया' कहते हैं। भगवान्‌की, संत-महात्माओंकी, साधकोंकी और साधारण मनुष्योंकी दया अलग-अलग होती है—

(१) भगवान्‌की दया—भगवान्‌की दया सभीको शुद्ध करनेके लिये होती है। भक्तलोग इस दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। मात्र मनुष्योंको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है।

(२) संत-महात्माओंकी दया—संत-महात्मालोग दूसरोंके दु:खसे दु:खी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं—**'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'** (मानस ७। ३८। १)। पर वास्तवमें उनके भीतर न दूसरोंके दु:खसे दु:ख होता है और न अपने दु:खसे ही दु:ख होता है। कारण कि तत्त्वमें न सुख है, न दु:ख। जैसे समुद्रके ऊपर लहरें उठती दीखती हैं, पर समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं होती, भीतरसे समुद्र शान्त (सम) रहता है, ऐसे ही व्यवहारमें सन्त दु:खी होते हुए दीखते हैं, पर उनके भीतर न सुख है, न दु:ख। तात्पर्य है कि वास्तवमें वे दु:खी नहीं होते, प्रत्युत उनके द्वारा दूसरेका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा होती है। अपनेपर प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर वे उसमें भगवान्‌की कृपाको देखते हैं, पर दूसरोंपर दु:ख आनेपर उन्हें सुखी करनेके लिये वे उनके दु:खको स्वयं अपनेपर ले लेते हैं। जैसे, इन्द्रने क्रोधपूर्वक बिना अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया था, पर जब इन्द्रने अपनी रक्षाके लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब दधीचिने सहर्ष प्राण छोड़कर उन्हें अपनी हड्डियाँ दे दीं। इस प्रकार संत-महापुरुष दूसरेके दु:खको सह नहीं सकते, प्रत्युत उन्हें सुख पहुँचानेके लिये अपनी सुख-सामग्री और प्राणतक दे देते हैं, चाहे दूसरा उनका अहित करनेवाला ही क्यों न हो!* इसलिये संत-

---

* **कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहन:। ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्॥**

'कर्णने अपनी त्वचा, शिबिने अपना मांस, दधीचिने अपनी हड्डियाँ और जीमूतवाहनने अपना जीवन (शरीर) दे दिया। सच है, महात्माओंके लिये (परहितके लिये) कुछ भी अदेय नहीं है।'

महात्माओंकी दया विशेष शुद्ध, निर्मल होती है।

(३) साधकोंकी दया—साधक अपने मनमें दूसरोंका दु:ख दूर करनेकी भावना रखता है और उसके अनुसार उनका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा भी करता है। दूसरोंको दु:खी देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है; क्योंकि वह अपनी ही तरह दूसरोंके दु:खको भी समझता है। इसलिये उसका यह भाव रहता है कि सब सुखी कैसे हों? सबका भला कैसे हो? सबका उद्धार कैसे हो? सबका हित कैसे हो? अपनी ओरसे वह ऐसी ही चेष्टा करता है; परन्तु मैं सबका हित करता हूँ, सबके हितकी चेष्टा करता हूँ—इन बातोंको लेकर उसके मनमें अभिमान नहीं होता। कारण कि दूसरोंका दु:ख दूर करनेका सहज स्वभाव बन जानेसे उसे अपने इस आचरणमें कोई विशेषता नहीं दीखती। इसलिये उसको अभिमान नहीं होता।

जो प्राणी भगवान्‌की ओर नहीं चलते, दुर्गुण-दुराचारोंमें रत रहते हैं, दूसरोंका अपराध करते हैं और अपना पतन करते हैं—ऐसे मनुष्योंपर साधकको क्रोध न आकर दया आती है। इसलिये वह हरदम ऐसी चेष्टा करता रहता है कि ये लोग दुर्गुण-दुराचारोंसे ऊपर कैसे उठें? इनका भला कैसे हो? कभी-कभी वह उनके दोषोंको दूर करनेमें अपनेको निर्बल मानकर भगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे नाथ! ये लोग इन दोषोंसे छूट जायँ और आपके भक्त बन जायँ।'

(४) साधारण मनुष्योंकी दया—साधारण मनुष्यकी दयामें थोड़ी मलिनता रहती है। वह किसी जीवके हितकी चेष्टा करता है, तो यह सोचता है कि 'मैं कितना दयालु हूँ! मैंने इस जीवको सुख पहुँचाया, तो मैं कितना अच्छा हूँ! हरेक आदमी मेरे-जैसा दयालु नहीं है, कोई-कोई ही होता है, इत्यादि।' इस प्रकार लोग मुझे अच्छा समझेंगे, मेरा आदर करेंगे आदि बातोंको लेकर, अपनेमें महत्त्वबुद्धि रखकर जो दया की जाती है, उसमें दयाका अंश तो अच्छा है, पर साथमें उपर्युक्त मलिनताएँ रहनेसे उस दयामें अशुद्धि आ जाती है।

इनसे भी साधारण दर्जेके मनुष्य दया तो करते हैं, पर उनकी दया ममतावाले व्यक्तियोंपर ही होती है। जैसे, ये हमारे परिवारके हैं, हमारे मत और सिद्धान्तको माननेवाले हैं, तो उनका दु:ख दूर करनेकी इच्छासे उन्हें सुख-आराम देनेका प्रयत्न करते हैं। यह दया ममता और पक्षपातयुक्त होनेसे अधिक अशुद्ध है।

इनसे भी घटिया दर्जेके वे मनुष्य हैं, जो केवल अपने सुख और स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही दूसरोंके प्रति दयाका बर्ताव करते हैं।

'अलोलुप्त्वम्'—इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध होनेसे अथवा दूसरोंको भोग भोगते हुए देखनेसे मनका (भोग भोगनेके लिये) ललचा उठनेका नाम 'लोलुपता' है और उसके सर्वथा अभावका नाम 'अलोलुप्त्व' है।

अलोलुपताके उपाय—(१) साधकके लिये विशेष सावधानीकी बात है कि वह अपनी इन्द्रियोंसे भोगोंका सम्बन्ध न रखे और मनमें कभी भी ऐसा भाव, ऐसा अभिमान न आने दे कि मेरा इन्द्रियोंपर अधिकार है अर्थात् इन्द्रियाँ मेरे वशमें हैं; अत: मेरा क्या बिगड़ सकता है?

(२) 'मैं हृदयसे परमात्माकी प्राप्ति चाहता हूँ, अगर कभी हृदयमें विषय-लोलुपता हो गयी, तो मेरा पतन हो जायगा और मैं परमात्मासे विमुख हो जाऊँगा'—इस प्रकार साधक खूब सावधान रहे और कहीं अचानक विचलित होनेका अवसर आ जाय, तो 'हे नाथ! बचाओ; हे नाथ! बचाओ' ऐसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारे।

(३) स्त्री-पुरुषोंकी तथा जन्तुओंकी कामविषयक चेष्टा न देखे। यदि दीख जाय, तो ऐसा विचार करे कि 'यह तो बिलकुल चौरासी लाख योनियोंका रास्ता है। यह चीज तो मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, राक्षस-असुर, भूत-प्रेत आदि मात्र जीवोंमें भी है। पर मैं तो चौरासी लाख योनियों अर्थात् जन्म-मरणसे ऊँचा उठना चाहता हूँ। मैं जन्म-मरणके मार्गका पथिक नहीं हूँ। मेरेको तो जन्म-मरणादि दु:खोंका अत्यन्त अभाव करके परमात्माकी प्राप्ति करना है।' इस भावको बड़ी सावधानीके साथ जाग्रत् रखे और जहाँतक बने, ऐसी काम-चेष्टा न देखे।

'मार्दवम्'—बिना कारण दु:ख देनेवालों और वैर रखनेवालोंके प्रति भी अन्त:करणमें कठोरताका भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलताका रहना 'मार्दव' है*।

साधकके हृदयमें सबके प्रति कोमलताका भाव रहता है। उसके प्रति कोई कठोरता एवं अहितका बर्ताव भी करता है, तो भी उसकी कोमलतामें अन्तर नहीं आता। यदि साधक कभी किसी बातको लेकर किसीको कठोर जवाब

*** शरीरकी प्रधानताको लेकर 'आर्जव' और अन्त:करणकी प्रधानताको लेकर 'मार्दव' कहा जाता है—यही इन दोनोंमें अन्तर है।**

भी दे दे, तो वह कठोर जवाब भी उसके हितकी दृष्टिसे ही देता है। पर पीछे उसके मनमें यह विचार आता है कि मैंने उसके प्रति कठोरताका व्यवहार क्यों किया? मैं प्रेमसे या अन्य किसी उपायसे भी समझा सकता था—इस प्रकारके भाव आनेसे कठोरता मिटती रहती है और कोमलता बढ़ती रहती है।

यद्यपि साधकोंके भावोंमें और वाणीमें कोमलता रहती है, तथापि उनकी भिन्न-भिन्न प्रकृति होनेसे सबकी वाणीमें एक समान कोमलता नहीं होती। परन्तु हृदयमें साधकोंका सबके प्रति कोमल भाव रहता है। ऐसे ही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदिका साधन करनेवालोंके स्वभावमें विभिन्नता होनेसे उनके बर्ताव सबके प्रति भिन्न-भिन्न होते हैं; अत: उनके आचरणोंमें एक-जैसी कोमलता नहीं दीखती, पर भीतरमें बड़ी भारी कोमलता रहती है।

'**ह्री:**'—शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें जो एक संकोच होता है, उसका नाम '**ह्री:**' (लज्जा) है। साधकको साधन-विरुद्ध क्रिया करनेमें लज्जा आती है। वह लज्जा केवल लोगोंके देखनेसे ही नहीं आती, प्रत्युत उसके मनमें अपने-आप ही यह विचार आता है कि 'राम-राम, मैं ऐसी क्रिया कैसे कर सकता हूँ? क्योंकि मैं तो परमात्माकी तरफ चलनेवाला (साधक) हूँ। लोग भी मुझे परमात्माकी तरफ चलनेवाला समझते हैं। अत: ऐसी साधन-विरुद्ध क्रियाओंको मैं एकान्तमें अथवा लोगोंके सामने कैसे कर सकता हूँ?'—इस लज्जाके कारण साधक बुरे कर्मोंसे बच जाता है एवं उसके आचरण ठीक होते चले जाते हैं। जब साधक अपनी अहंता बदल देता है कि मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, तब उसे अपनी अहंताके विरुद्ध क्रिया करनेमें स्वाभाविक ही लज्जा आती है। इसलिये पारमार्थिक उद्देश्य रखनेवाले प्रत्येक साधकको अपनी अहंता 'मैं साधक हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भगवद्भक्त हूँ'—इस प्रकारसे यथारुचि बदल लेनी चाहिये, जिससे वह साधन-विरोधी कर्मोंसे बचकर अपने उद्देश्यको जल्दी प्राप्त कर सकता है।

'**अचापलम्**'—कोई भी कार्य करनेमें चपलताका अर्थात् उतावलापनका न होना 'अचापल' है। चपलता (चंचलता) होनेसे काम जल्दी होता है, ऐसी बात नहीं है। सात्त्विक मनुष्य सब काम धैर्यपूर्वक करता है; अत: उसका काम सुचारुरूपसे और ठीक समयपर हो जाता है। जब कार्य ठीक हो जाता है, तब उसके अन्त:करणमें हलचल, चिन्ता नहीं होती। चपलता न होनेसे कार्यमें दीर्घसूत्रताका दोष भी नहीं आता, प्रत्युत कार्यमें तत्परता आती है, जिससे सब काम सुचारुरूपसे होते हैं। अपने कर्तव्य-कर्मोंको करनेके अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा न होनेसे उसका चित्त विक्षिप्त और चंचल नहीं होता (गीता—अठारहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेज:	= तेज (प्रभाव),		(और)	**सम्पदम्**	= सम्पदाको
क्षमा	= क्षमा,	**नातिमानिता**	= मानको न चाहना,	**अभिजातस्य**	= प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण)
धृति:	= धैर्य,	**भारत**	= हे भरतवंशी अर्जुन! (ये सभी)		
शौचम्	= शरीरकी शुद्धि,				
अद्रोह:	= वैरभावका न होना	**दैवीम्**	= दैवी	**भवन्ति**	= हैं।

व्याख्या—'**तेज:**'—महापुरुषोंका संग मिलनेपर उनके प्रभावसे प्रभावित होकर साधारण पुरुष भी दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें लग जाते हैं। महापुरुषोंकी उस शक्तिको ही यहाँ 'तेज' कहा है। ऐसे तो क्रोधी आदमीको देखकर भी लोगोंको उसके स्वभावके विरुद्ध काम करनेमें भय लगता है; परन्तु यह क्रोधरूप दोषका तेज है।

साधकमें दैवी-सम्पत्तिके गुण प्रकट होनेसे उसको देखकर दूसरे लोगोंके भीतर स्वाभाविक ही सौम्यभाव आते हैं अर्थात् उस साधकके सामने दूसरे लोग दुराचार करनेमें लज्जित होते हैं, हिचकते हैं और अनायास ही सद्भावपूर्वक सदाचार करने लग जाते हैं। यही उन दैवी-सम्पत्तिवालोंका तेज (प्रभाव) है।

'**क्षमा**'—बिना कारण अपराध करनेवालेको दण्ड

देनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराधको सह लेना और उसको माफ कर देना 'क्षमा'[1] है। यह क्षमा मोह-ममता, भय और स्वार्थको लेकर भी की जाती है; जैसे—पुत्रके अपराध कर देनेपर पिता उसे क्षमा कर देता है, तो यह क्षमा मोह-ममताको लेकर होनेसे शुद्ध नहीं है। इसी प्रकार किसी बलवान् एवं क्रूर व्यक्तिके द्वारा हमारा अपराध किये जानेपर हम भयवश उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा भयको लेकर है। हमारी धन-सम्पत्तिकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये इन्सपेक्टर आता है, तो वह हमें धमकाता है, अनुचित भी बोलता है और उसका ठहरना हमें बुरा भी लगता है तो भी स्वार्थ-हानिके भयसे हम उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा स्वार्थको लेकर है। पर ऐसी क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं है। वास्तविक क्षमा तो वही है, जिसमें 'हमारा अनिष्ट करनेवालेको यहाँ और परलोकमें भी किसी प्रकारका दण्ड न मिले'—ऐसा भाव रहता है।

क्षमा माँगना भी दो रीतिसे होता है—

(१) हमने किसीका अपकार किया, तो उसका दण्ड हमें न मिले—इस भयसे भी क्षमा माँगी जाती है; परन्तु इस क्षमामें स्वार्थका भाव रहनेसे यह ऊँचे दर्जेकी क्षमा नहीं है।

(२) हमसे किसीका अपराध हुआ, तो अब यहाँसे आगे उम्रभर ऐसा अपराध फिर कभी नहीं करूँगा—इस भावसे जो क्षमा माँगी जाती है, वह अपने सुधारकी दृष्टिको लेकर होती है और ऐसी क्षमा माँगनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है।

मनुष्य क्षमाको अपनेमें लाना चाहे तो कौन-सा उपाय करे? यदि मनुष्य अपने लिये किसीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न रखे और अपना अपकार करनेवालेका बुरा न चाहे, तो उसमें क्षमाभाव प्रकट हो जाता है।

'धृतिः'—किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें विचलित न होकर अपनी स्थितिमें कायम रहनेकी शक्तिका नाम 'धृति' (धैर्य) है (गीता—अठारहवें अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)।

वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं तो धैर्य ठीक रहता है और वृत्तियाँ राजसी-तामसी होती हैं तो धैर्य वैसा नहीं रहता। जैसे बद्रीनारायणके रास्तेपर चलनेवालेके लिये कभी गरमी, चढ़ाई आदि प्रतिकूलताएँ आती हैं और कभी ठण्डक, उतराई आदि अनुकूलताएँ आती हैं, पर चलनेवालेको उन प्रतिकूलताओं और अनुकूलताओंको देखकर ठहरना नहीं है, प्रत्युत 'हमें तो बद्रीनारायण पहुँचना है'—इस उद्देश्यसे धैर्य और तत्परतापूर्वक चलते रहना है। ऐसे ही साधकको अच्छी-मन्दी वृत्तियों और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। इनमें उसे धीरज धारण करना चाहिये; क्योंकि जो अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मार्गमें आनेवाले सुख और दुःखको नहीं देखता—

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

(भर्तृहरिनीतिशतक)

'शौचम्'—बाह्यशुद्धि एवं अन्तःशुद्धिका नाम 'शौच' है[2]। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखनेवाला साधक बाह्यशुद्धिका भी खयाल रखता है; क्योंकि बाह्यशुद्धि रखनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि स्वतः होती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बाह्य-अशुद्धि उसको सुहाती नहीं। इस विषयपर पतंजलि महाराजने कहा है—

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

'शौचसे साधककी अपने शरीरमें घृणा अर्थात् अपवित्र-बुद्धि और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा होती है।'

तात्पर्य यह है कि अपने शरीरको शुद्ध रखनेसे शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होता है। शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होनेसे 'सम्पूर्ण शरीर इसी तरहके हैं'—इसका बोध होता है। इस बोधसे दूसरे शरीरोंके प्रति जो आकर्षण होता है, उसका अभाव हो जाता है अर्थात् दूसरे शरीरोंसे सुख

१-क्षमा और अक्रोधमें क्या अन्तर है? क्षमामें जिसने अपराध किया है, उसपर विशेषतासे यह दृष्टि रहती है कि उसको कभी किसी प्रकारका दण्ड न हो और अक्रोधमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है कि हमारेमें क्रोध न हो, जलन न हो, किसी प्रकारकी हलचल न हो। यद्यपि क्षमाके अन्तर्गत अक्रोध भी आ जाता है, तथापि क्षमाशील कह देनेपर उसके लिये क्रोधरहित कहनेकी आवश्यकता नहीं है, जब कि क्रोधरहित कहनेपर यह क्षमाशील है, ऐसा कहनेकी आवश्यकता रह जाती है। अतः ये दोनों गुण (क्षमा और अक्रोध) भिन्न-भिन्न हैं।

२-यहाँ 'शौचम्' पदसे बाह्यशुद्धि ही लेनी चाहिये; क्योंकि अन्तःशुद्धि 'सत्त्वसंशुद्धिः' पदसे इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आ चुकी है।

लेनेकी इच्छा मिट जाती है।

बाह्यशुद्धि चार प्रकारसे होती है—(१) शारीरिक, (२) वाचिक, (३) कौटुम्बिक और (४) आर्थिक।

(१) शारीरिक शुद्धि—प्रमाद, आलस्य, आरामतलबी, स्वाद-शौकीनी आदिसे शरीर अशुद्ध हो जाता है और इनके विपरीत कार्य-तत्परता, पुरुषार्थ, उद्योग, सादगी आदि रखते हुए आवश्यक कार्य करनेपर शरीर शुद्ध हो जाता है। ऐसे ही जल, मृत्तिका आदिसे भी शारीरिक शुद्धि होती है।

(२) वाचिक शुद्धि—झूठ बोलने, कड़ुआ बोलने, वृथा बकवाद करने, निन्दा करने, चुगली करने आदिसे वाणी अशुद्ध हो जाती है। इन दोषोंसे रहित होकर सत्य, प्रिय एवं हितकारक आवश्यक वचन बोलना (जिससे दूसरोंकी पारमार्थिक उन्नति होती हो और देश, ग्राम, मोहल्ले, परिवार, कुटुम्ब आदिका हित होता हो) और अनावश्यक बात न करना—यह वाणीकी शुद्धि है।

(३) कौटुम्बिक शुद्धि—अपने बाल-बच्चोंको अच्छी शिक्षा देना; जिससे उनका हित हो, वही आचरण करना; कुटुम्बियोंका हमपर जो न्याययुक्त अधिकार है, उसको अपनी शक्तिके अनुसार पूरा करना; कुटुम्बियोंमें किसीका पक्षपात न करके सबका समानरूपसे हित करना—यह कौटुम्बिक शुद्धि है।

(४) आर्थिक शुद्धि—न्याययुक्त, सत्यतापूर्वक, दूसरोंके हितका बर्ताव करते हुए जिस धनका उपार्जन किया गया है, उसको यथाशक्ति, अरक्षित, अभावग्रस्त, दरिद्री, रोगी, अकालपीड़ित, भूखे आदि आवश्यकतावालोंको देनेसे एवं गौ, स्त्री, ब्राह्मणोंकी रक्षामें लगानेसे द्रव्यकी शुद्धि होती है। त्यागी-वैरागी-तपस्वी सन्त-महापुरुषोंकी सेवामें लगानेसे एवं सद्ग्रन्थोंको सरल भाषामें छपवाकर कम मूल्यमें देनेसे तथा उनका लोगोंमें प्रचार करनेसे धनकी महान् शुद्धि हो जाती है।

परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर अपनी (स्वयंकी) शुद्धि हो जाती है। स्वयंकी शुद्धि होनेपर शरीर, वाणी, कुटुम्ब, धन आदि सभी शुद्ध एवं पवित्र होने लगते हैं। शरीर आदिके शुद्ध हो जानेसे वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि भी शुद्ध हो जाते हैं। बाह्यशुद्धि और पवित्रताका खयाल रखनेसे शरीरकी वास्तविकता अनुभवमें आ जाती है, जिससे शरीरसे अहंता-ममता छोड़नेमें सहायता मिलती है। इस प्रकार यह साधन भी परमात्मप्राप्तिमें निमित्त बनता है।

‘**अद्रोहः**’—बिना कारण अनिष्ट करनेवालेके प्रति भी अन्त:करणमें बदला लेनेकी भावनाका न होना ‘अद्रोह’* है। साधारण व्यक्तिका कोई अनिष्ट करता है, तो उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति द्वेषकी एक गाँठ बँध जाती है कि मौका पड़नेपर मैं इसका बदला ले ही लूँगा; किन्तु जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है, उस साधकका कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति बदला लेनेकी भावना ही पैदा नहीं होती। कारण कि कर्मयोगका साधक सबके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करता है, ज्ञानयोगका साधक सबको अपना स्वरूप समझता है और भक्तियोगका साधक सबमें अपने इष्ट भगवान्‌को समझता है। अत: वह किसीके प्रति कैसे द्रोह कर सकता है।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७। ११२ ख)

‘**नातिमानिता**’—एक ‘मानिता’ होती है और एक ‘अतिमानिता’ होती है। सामान्य व्यक्तियोंसे मान चाहना ‘मानिता’ है और जिनसे हमने शिक्षा प्राप्त की, जिनका आदर्श ग्रहण किया और ग्रहण करना चाहते हैं, उनसे भी अपना मान, आदर-सत्कार चाहना ‘अतिमानिता’ है। इन मानिता और अतिमानिताका न होना ‘नातिमानिता’ है—स्थूल दृष्टिसे ‘मानिता’ के दो भेद होते हैं—

(१) सांसारिक मानिता—धन, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, अधिकार, पद, वर्ण, आश्रम आदिको लेकर दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें एक श्रेष्ठताका भाव होता है कि ‘मैं साधारण मनुष्योंकी तरह थोड़े ही हूँ, मेरा कितने लोग आदर-सत्कार करते हैं! वे आदर करते हैं तो यह ठीक ही है; क्योंकि मैं आदर पानेयोग्य ही हूँ’—इस प्रकार अपने प्रति जो मान्यता होती है, वह सांसारिक मानिता कहलाती है।

(२) पारमार्थिक मानिता—प्रारम्भिक साधनकालमें जब अपनेमें कुछ दैवी-सम्पत्ति प्रकट होने लगती है, तब साधकको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है। साथ ही दूसरे लोग भी उसे परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक मानकर उसका विशेष आदर करते हैं और साथ-ही-साथ ‘ये साधन करनेवाले हैं, अच्छे सज्जन

*** क्रोध और द्रोह—दोनोंमें अन्तर है। अपना अनिष्ट करनेवालेके प्रति तत्काल जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम ‘क्रोध’ है; और क्रोधका जो भीतरी भाव बैठता है अर्थात् मौका मिलनेपर उसका अनिष्ट करनेकी जो वैरभावना बैठती है, उसका नाम ‘द्रोह’ है।**

हैं'—ऐसी प्रशंसा भी करते हैं। इससे साधकको अपनेमें विशेषता मालूम देती है, पर वास्तवमें यह विशेषता अपने साधनमें कमी होनेके कारण ही दीखती है। यह विशेषता दीखना पारमार्थिक मानिता है।

जबतक अपनेमें व्यक्तित्व (एकदेशीयता, परिछिन्नता) रहता है, तभीतक अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दिखायी दिया करती है। परन्तु ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व मिटता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों साधकका दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषताका भाव मिटता चला जाता है। अन्तमें इन सभी मानिताओंका अभाव होकर साधकमें दैवी-सम्पत्तिका गुण 'नातिमानिता' प्रकट हो जाती है।

दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, उनको पूर्णतया जाग्रत् करनेका उद्‌देश्य तो साधकका होना ही चाहिये। हाँ, प्रकृति-(स्वभाव-)की भिन्नतासे किसीमें किसी गुणकी कमी, तो किसीमें किसी गुणकी कमी रह सकती है। परन्तु वह कमी साधकके मनमें खटकती रहती है और वह प्रभुका आश्रय लेकर अपने साधनको तत्परतासे करते रहता है; अतः भगवत्कृपासे वह कमी मिटती जाती है। कमी ज्यों-ज्यों मिटती जाती है, त्यों-त्यों उत्साह और उस कमीके उत्तरोत्तर मिटनेकी सम्भावना भी बढ़ती जाती है। इससे दुर्गुण-दुराचार सर्वथा नष्ट होकर सद्‌गुण-सदाचार अर्थात् दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

'भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत'—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! ये सभी दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्योंके लक्षण हैं।

परमात्मप्राप्तिका उद्‌देश्य होनेपर ये दैवी-सम्पत्तिके लक्षण साधकमें स्वाभाविक ही आने लगते हैं। कुछ लक्षण पूर्वजन्मोंके संस्कारोंसे भी जाग्रत् होते हैं। परन्तु साधक इन गुणोंको अपने नहीं मानता और न उनको अपने पुरुषार्थसे उपार्जित ही मानता है, प्रत्युत गुणोंके आनेमें वह भगवान्‌की ही कृपा मानता है। कभी खयाल करनेपर साधकके मनमें ऐसा विचार होता है कि मेरेमें पहले तो ऐसी वृत्तियाँ नहीं थीं, ऐसे सद्‌गुण नहीं थे, फिर ये कहाँसे आ गये? तो ये सब भगवान्‌की कृपासे ही आये हैं—ऐसा अनुभव होनेसे उस साधकको दैवी-सम्पत्तिका अभिमान नहीं आता।

साधकको दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपने नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यह देव—परमात्माकी सम्पत्ति है, व्यक्तिगत (अपनी) किसीकी नहीं है। यदि व्यक्तिगत होती, तो यह अपनेमें ही रहती, किसी अन्य व्यक्तिकी नहीं रहती। इसको व्यक्तिगत माननेसे ही अभिमान आता है। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मुख्य लक्षण है। अभिमानकी छायामें ही आसुरी-सम्पत्तिके सभी अवगुण रहते हैं। यदि दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति (अभिमान) पैदा हो जाय, तो फिर आसुरी-सम्पत्ति कभी मिटेगी ही नहीं। परन्तु दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके साथ-साथ आसुरी-सम्पत्तिके जो अवगुण रहते हैं, उनसे ही गुणोंका अभिमान पैदा होता है अर्थात् साधनके साथ कुछ-कुछ असाधन रहनेसे ही अभिमान आदि दोष पैदा होते हैं। जैसे, किसीको सत्य बोलनेका अभिमान होता है, तो उसके मूलमें वह सत्यके साथ-साथ असत्य भी बोलता है, जिसके कारण सत्यका अभिमान आता है। तात्पर्य यह है कि दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपना माननेसे एवं गुणोंके साथ अवगुण रहनेसे ही अभिमान आता है। सर्वथा गुण आनेपर गुणोंका अभिमान हो ही नहीं सकता।

यहाँ दैवी-सम्पत्ति कहनेका तात्पर्य है कि यह भगवान्‌की सम्पत्ति है। अतः भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे, उनका आश्रय लेनेसे शरणागत भक्तमें यह स्वाभाविक ही आती है। जैसे शबरीके प्रसंगमें रामजीने कहा है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

....

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

(मानस ३। ३५-३६)

मनुष्य-देवता, भूत-पिशाच, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतंग, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबमें अपनी-अपनी योनिके अनुसार मिले हुए शरीरोंके रुग्ण एवं जीर्ण हो जानेपर भी 'मैं जीता रहूँ, मेरे प्राण बने रहें'—यह इच्छा बनी रहती है*। इस इच्छाका होना ही आसुरी-सम्पत्ति है।

त्यागी-वैरागी साधकमें भी प्राणोंके बने रहनेकी इच्छा रहती है; परन्तु उसमें प्राणपोषण-बुद्धि, इन्द्रिय-लोलुपता नहीं रहती; क्योंकि उसका उद्‌देश्य परमात्मा होता है, न कि शरीर और संसार।

* **यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥ (श्रीमद्भा० १०। १४। ५३)**

जब साधक भक्तका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, तब उसको भगवान् प्राणोंसे भी प्यारे लगते हैं। प्राणोंका मोह न रहनेसे उसके प्राणोंका आधार केवल भगवान् हो जाते हैं। इसलिये वह भगवान्‌को 'प्राणनाथ! प्राणेश्वर! प्राणप्रिय!' आदि सम्बोधनोंसे पुकारता है। भगवान्‌का वियोग न सहनेसे उसके प्राण भी छूट सकते हैं। कारण कि मनुष्य जिस वस्तुको प्राणोंसे भी बढ़कर मान लेता है, उसके लिये यदि प्राणोंका त्याग करना पड़े तो वह सहर्ष प्राणोंका त्याग कर देता है; जैसे—पतिव्रता स्त्री पतिको प्राणोंसे भी बढ़कर (प्राणनाथ) मानती है, तो उसका प्राण, शरीर, वस्तु, व्यक्ति आदिमें मोह नहीं रहता। इसीलिये पतिके मरनेपर वह उसके वियोगमें प्रसन्नतापूर्वक सती हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि जब केवल भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, तो फिर प्राणोंका मोह नहीं रहता। प्राणोंका मोह न रहनेसे आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है और दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट हो जाती है। इसी बातका संकेत गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इस प्रकार किया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस ७। ४९। ३)

सम्बन्ध—अबतक एक परमात्माका ही उद्देश्य रखनेवालोंकी दैवी-सम्पत्ति बतायी; परन्तु सांसारिक भोग भोगना और संग्रह करना ही जिनका उद्देश्य है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोगोंकी कौन-सी सम्पत्ति होती है—इसे अब आगेके श्लोकमें बताते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**क्रोधः**	=क्रोध करना	**एव**	=भी—(ये सभी)
दम्भः	=दम्भ करना,	**च**	=तथा	**आसुरीम्**	=आसुरी
दर्पः	=घमण्ड करना	**पारुष्यम्**	=कठोरता रखना	**सम्पदम्**	=सम्पदाको
च	=और	**च**	=और	**अभिजातस्य**	=प्राप्त हुए मनुष्यके
अभिमानः	=अभिमान करना,	**अज्ञानम्**	=अविवेकका होना		(लक्षण) हैं।

व्याख्या—'**दम्भः**'—मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि प्राप्त करनेके लिये, अपनी वैसी स्थिति न होनेपर भी वैसी स्थिति दिखानेका नाम 'दम्भ' है। यह दम्भ दो प्रकारसे होता है—

(१) सद्‌गुण-सदाचारोंको लेकर—अपनेको धर्मात्मा, साधक, विद्वान्, गुणवान् आदि प्रकट करना अर्थात् अपनेमें वैसा आचरण न होनेपर भी अपनेमें श्रेष्ठ गुणोंको लेकर वैसा आचरण दिखाना, थोड़ा होनेपर भी ज्यादा दिखाना, भोगी होनेपर भी अपनेको योगी दिखाना आदि दिखावटी भावों और क्रियाओंका होना—यह सद्‌गुण-सदाचारोंको लेकर 'दम्भ' है।

(२) दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर—जिसका आचरण, खान-पान स्वाभाविक अशुद्ध नहीं है, ऐसा व्यक्ति भी जिनके आचरण, खान-पान अशुद्ध हैं—ऐसे दुर्गुणी-दुराचारी लोगोंमें जाकर उनको राजी करके अपनी इज्जत जमानेके लिये, मान-आदर आदि प्राप्त करनेके लिये, अपने मनमें बुरा लगनेपर भी वैसा आचरण, खान-पान कर बैठता है—यह दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर 'दम्भ' है।

तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य प्राण, शरीर, धन, सम्पत्ति, आदर, महिमा आदिको प्रधानता देने लगता है, तब उसमें दम्भ आ जाता है।

'**दर्पः**'—घमण्डका नाम 'दर्प' है। धन-वैभव, जमीन-जायदाद, मकान-परिवार आदि ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पनका अनुभव होता है, वह 'दर्प' है। जैसे—मेरे पास इतना धन है; मेरा इतना बड़ा परिवार है; मेरा इतना राज्य है; मेरे पास इतनी जमीन-जायदाद है; मेरे पीछे इतने आदमी हैं; मेरी आवाजके पीछे इतने आदमी बोलते हैं; मेरे पक्षमें बहुत आदमी हैं; धन-सम्पत्ति-वैभवमें मेरी बराबरी कौन कर सकता है? मेरे पास ऐसे-ऐसे पद हैं, अधिकार हैं; संसारमें मेरा कितना यश, प्रतिष्ठा हो रही है! मेरे बहुत अनुयायी हैं; मेरा सम्प्रदाय कितना ऊँचा है! मेरे गुरुजी कितने प्रभावशाली हैं! आदि-आदि।

'**अभिमानः**'—अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर अपनेमें जो

बड़प्पनका अनुभव होता है, उसका नाम 'अभिमान' है[१]। जैसे—मैं जाति-पाँतिमें कुलीन हूँ; मैं वर्ण-आश्रममें ऊँचा हूँ; हमारी जातिमें हमारी प्रधानता है; गाँवभरमें हमारी बात चलती है अर्थात् हम जो कह देंगे, उसको सभी मानेंगे; हम जिसको सहारा देंगे, उस आदमीसे विरुद्ध चलनेमें सभी लोग भयभीत होंगे और हम जिसके विरोधी होंगे, उसका साथ देनेमें भी सभी लोग भयभीत होंगे; राजदरबारमें भी हमारा आदर है, इसलिये हम जो कह देंगे, उसे कोई टालेगा नहीं; हम न्याय-अन्याय जो कुछ भी करेंगे, उसको कोई टाल नहीं सकता, उसका कोई विरोध नहीं कर सकता; मैं बड़ा विद्वान् हूँ, मैं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियोंको जानता हूँ इसलिये सारे संसारको उथल-पुथल कर सकता हूँ, आदि-आदि।

'क्रोधः'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्तः-करणमें जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम 'क्रोध' है।

मनुष्यके स्वभावके विपरीत कोई काम करता है तो उसका अनिष्ट करनेके लिये अन्तःकरणमें उत्तेजना होकर जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह क्रोध है। क्रोध और क्षोभमें अन्तर है। बच्चा उद्दण्डता करता है, कहना नहीं मानता, तो माता-पिता उत्तेजनामें आकर उसको ताड़ना करते हैं—यह उनका 'क्षोभ' (हृदयकी हलचल) है, क्रोध नहीं। कारण कि उनमें बच्चेका अनिष्ट करनेकी भावना होती ही नहीं, प्रत्युत बच्चेके हितकी भावना होती है। परंतु यदि उत्तेजनामें आकर दूसरेका अनिष्ट, अहित करके उसे दुःख देनेमें सुखका अनुभव होता है, तो यह 'क्रोध' है। आसुरी प्रकृतिवालोंमें यही क्रोध होता है।

क्रोधके वशीभूत होकर मनुष्य न करनेयोग्य काम भी कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप स्वयं उसको पश्चात्ताप करना पड़ता है। क्रोधी व्यक्ति उत्तेजनामें आकर दूसरोंका अपकार तो करता है, पर क्रोधसे स्वयं उसका अपकार कम नहीं होता; क्योंकि अपना अनिष्ट किये बिना क्रोधी व्यक्ति दूसरेका अनिष्ट कर ही नहीं सकता। इसमें भी एक मर्मकी बात है कि क्रोधी व्यक्ति जिसका अनिष्ट करता है, उसका किन्हीं दुष्कर्मोंका जो फल भोगरूपसे आनेवाला है, वही होता है अर्थात् उसका कोई नया अनिष्ट नहीं हो सकता; परंतु क्रोधी व्यक्तिका दूसरेका अनिष्ट करनेकी भावनासे और अनिष्ट करनेसे नया पाप-संग्रह हो जायगा तथा उसका स्वभाव भी बिगड़ जायगा। यह स्वभाव उसे नरकोंमें ले जानेका हेतु बन जायगा और वह जिस योनिमें जायगा, वहीं उसे दुःख देगा।

क्रोध स्वयंको ही जलाता है[२]। क्रोधी व्यक्तिकी संसारमें अच्छी ख्याति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा ही होती है। खास अपने घरके आदमी भी क्रोधीसे डरते हैं। इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्रोधको नरकोंका दरवाजा बताया है। जब मनुष्यके स्वार्थ और अभिमानमें बाधा पड़ती है, तब क्रोध पैदा होता है। फिर क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

'पारुष्यम्'—कठोरताका नाम 'पारुष्य' है। यह कई प्रकारका होता है; जैसे—शरीरसे अकड़कर चलना, टेढ़े चलना—यह शारीरिक पारुष्य है। नेत्रोंसे टेढ़ा-टेढ़ा देखना—यह नेत्रोंका पारुष्य है। वाणीसे कठोर बोलना, जिससे दूसरे भयभीत हो जायँ—यह वाणीका पारुष्य है। दूसरोंपर आफत, संकट, दुःख आनेपर भी उनकी सहायता न करके राजी होना आदि जो कठोर भाव होते हैं, यह हृदयका पारुष्य है।

जो शरीर और प्राणोंके साथ एक हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंको यदि दूसरोंकी क्रिया, वाणी बुरी लगती है, तो उसके बदलेमें वे उनको कठोर वचन सुनाते हैं, दुःख देते हैं और स्वयं राजी होकर कहते हैं कि 'आपने देखा कि नहीं? मैंने उसके साथ ऐसा कड़ा व्यवहार किया कि उसके दाँत खट्टे कर दिये! अब वह मेरे साथ बोल सकता है क्या?' यह सब व्यवहारका पारुष्य है।

स्वार्थबुद्धिकी अधिकता रहनेके कारण मनुष्य अपना

१-जहाँ अभिमान और दर्प—दोनोंमेंसे कोई एक आता है, वहाँ अभिमानके ही अन्तर्गत दर्प और दर्पके ही अन्तर्गत अभिमान आ जाता है। परन्तु जहाँ ये दोनों एक साथ स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ दोनोंमें थोड़ा अन्तर हो जाता है। 'ममता' की चीजोंको लेकर 'दर्प' और 'अहंता' की चीजोंको लेकर 'अभिमान' कहा जाता है अर्थात् बाहरी चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता है, वह 'दर्प' है और विद्या, बुद्धि आदि भीतरी चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता है, वह 'अभिमान' है।

२-क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय। यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः स एव वह्निर्दहते शरीरम्॥

'क्रोध ही मनुष्यका प्रथम शत्रु है, जो देहमें स्थित होकर देहका ही विनाश करता है। जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि लकड़ीको ही जलाती है, ऐसे ही देहमें स्थित क्रोधरूपी अग्नि देहको ही जलाती है।'

मतलब सिद्ध करनेके लिये, अपनी क्रियाओंसे दूसरोंको कष्ट होगा, उनपर कोई आफत आयेगी—इन बातोंपर विचार ही नहीं कर सकता। हृदयमें कठोर भाव होनेसे वह केवल अपना मतलब देखता है और उसके मन, वाणी, शरीर, बर्ताव आदि सब जगह कठोरता रहती है। स्वार्थभावकी बहुत ज्यादा वृत्ति बढ़ती है, तो वह हिंसा आदि भी कर बैठता है, जिससे उसके स्वभावमें स्वाभाविक ही क्रूरता आ जाती है। क्रूरता आनेपर हृदयमें सौम्यता बिलकुल नहीं रहती। सौम्यता न रहनेसे उसके बर्तावमें, लेन-देनमें स्वाभाविक ही कठोरता रहती है। इसलिये वह केवल दूसरोंसे रुपये ऐंठने, दूसरोंको दुःख देने आदिमें लगा रहता है। इनके परिणाममें मुझे सुख होगा या दुःख—इसका वह विचार ही नहीं कर सकता।

'अज्ञानम्'—यहाँ 'अज्ञान' नाम अविवेकका है। अविवेकी पुरुषोंको सत्-असत्, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका बोध नहीं होता। कारण कि उनकी दृष्टि नाशवान् पदार्थोंके भोग और संग्रहपर ही लगी रहती है। इसलिये (परिणामपर दृष्टि न रहनेसे) वे यह सोच ही नहीं सकते कि ये नाशवान् पदार्थ कबतक हमारे साथ रहेंगे और हम कबतक इनके साथ रहेंगे। पशुओंकी तरह केवल प्राणपोषणमें ही लगे रहनेके कारण वे क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है—इन बातोंको नहीं जान सकते और न जानना ही चाहते हैं।

वे तात्कालिक संयोगजन्य सुखको ही सुख मानते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंके प्रतिकूल संयोगको ही दुःख मानते हैं। इसलिये वे उद्योग तो सुखके लिये ही करते हैं, पर परिणाममें उनको पहलेसे भी अधिक दुःख मिलता है[1]। फिर भी उनको चेत नहीं होता कि इसका हमारे लिये नतीजा क्या होगा? वे तो मान-बड़ाई, सुख-आराम, धन-सम्पत्ति आदिके प्रलोभनमें आकर न करनेलायक काम भी करने लग जाते हैं, जिनका नतीजा उनके लिये तथा दुनियाके लिये भी बड़ा अहितकारक होता है।

'अभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्'—हे पार्थ! ये सब आसुरी सम्पत्ति[2] को प्राप्त हुए मनुष्योंके लक्षण हैं। मरणधर्मा शरीरके साथ एकता मानकर 'मैं कभी मरूँ नहीं; सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ'—ऐसी इच्छावाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ये लक्षण होते हैं।

अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कोई भी साधारण प्राणी प्रकृतिके गुणोंके सम्बन्धसे सर्वथा रहित नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध लेकर ही पैदा होता है। प्रकृतिके साथ सम्बन्धका तात्पर्य है—प्रकृतिके कार्य शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध (तादात्म्य) और पदार्थोंमें ममता, आसक्ति तथा कामनाका होना। शरीरमें 'मैं-मेरे'का सम्बन्ध ही आसुरी-सम्पत्तिका मूलभूत लक्षण है। जिसका प्रकृतिके साथ मुख्यतासे सम्बन्ध है, उसीके लिये यहाँ कहा गया है कि वह आसुरी-सम्पत्तिको प्राप्त हुआ है।

प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जीवका अपना माना हुआ है। अतः वह जब चाहे इस सम्बन्धका त्याग कर सकता है। कारण कि जीव (आत्मा) चेतन तथा निर्विकार है और प्रकृति जड तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, इसलिये चेतनका जडसे सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल मान रखा है। इस सम्बन्धको छोड़ते ही आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है। इस प्रकार मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिको मिटानेकी पूरी योग्यता है। तात्पर्य है कि आसुरी-सम्पत्तिको प्राप्त होते हुए भी वह प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके आसुरी-सम्पत्तिको मिटा सकता है।

प्राणोंमें मनुष्यका ज्यों-ज्यों मोह होता जाता है, त्यों-ही-त्यों आसुरी-सम्पत्ति अधिक बढ़ती जाती है। आसुरी-सम्पत्तिके अत्यधिक बढ़नेपर मनुष्य अपने प्राणोंको रखनेके लिये और सुख भोगनेके लिये दूसरोंका नुकसान भी कर देता है। इतना ही नहीं, दूसरोंकी हत्या कर देनेमें भी वह नहीं हिचकता।

१-कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च। पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ (श्रीमद्भा० ११। ३। १८)

राजन्! स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदि बन्धनोंसे बँधे हुए पुरुष तो सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये कर्म करते रहते हैं। परन्तु जो पुरुष मायासे तरना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उसके कर्मोंका फल किस प्रकार उलटा होता जाता है। वे सुखके बदले दुःख पाते हैं और दुःख दूर होनेके बदले उनका दुःख बढ़ता जाता है!

२-यहाँ 'आसुरी' शब्दमें देवताओंका विरोधवाचक 'नञ्' समास नहीं है, प्रत्युत 'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः' के अनुसार जो मनुष्य केवल इन्द्रियों और प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे हुए हैं अर्थात् जो केवल संयोगजन्य सुखमें ही आसक्त हैं, उन मनुष्योंका वाचक यहाँ 'असुर' शब्द है। तात्पर्य यह है कि जिनका उद्देश्य परमात्माको प्राप्त करना नहीं है और जो शरीर धारण करके केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे असुर हैं। उन असुरोंकी सम्पत्तिका नाम 'आसुरी-सम्पत्ति' है।

मनुष्य जब अस्थायीको स्थायी मान लेता है, तब आसुरी-सम्पत्तिके दुर्गुण-दुराचारोंके समूह-के-समूह उसमें आ जाते हैं। तात्पर्य है कि असत्‌का संग होनेसे असत् आचरण, असत् भाव और दुर्गुण बिना बुलाये तथा बिना उद्योग किये अपने-आप आते हैं, जो मनुष्यको परमात्मासे विमुख करके अधोगतिमें ले जानेवाले हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् दैवी और आसुरी—दोनों प्रकारकी सम्पत्तियोंका फल बताते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी	= दैवी	**निबन्धाय**	= बन्धनके लिये	**अभिजातः**	= प्राप्त हुए
सम्पत्	= सम्पत्ति	**मता**	= मानी गयी है।	**असि**	= हो, (इसलिये तुम)
विमोक्षाय	= मुक्तिके लिये (और)	**पाण्डव**	= हे पाण्डव! (तुम)	**मा, शुचः**	= शोक (चिन्ता) मत करो।
आसुरी	= आसुरी सम्पत्ति	**दैवीम्**	= दैवी		
		सम्पदम्	= सम्पत्तिको		

व्याख्या—‘**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**’—मेरेको भगवान्‌की तरफ ही चलना है—यह भाव साधकमें जितना स्पष्टरूपसे आ जाता है, उतना ही वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है। भगवान्‌के सम्मुख होनेसे उसमें संसारसे विमुखता आ जाती है। संसारसे विमुखता आ जानेसे आसुरी-सम्पत्तिके जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, वे कम होने लगते हैं और दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्गुण-सदाचार हैं, वे प्रकट होने लगते हैं। इससे साधककी भगवान्‌में और भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, चरित्र आदिमें रुचि हो जाती है।

इसमें विशेषतासे ध्यान देनेकी बात है कि साधकका उद्देश्य जितना दृढ़ होगा, उतना ही उसका परमात्माके साथ जो अनादिकालका सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जायगा और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह मिट जायगा। मिट क्या जायगा, वह तो प्रतिक्षण मिट ही रहा है! वास्तवमें प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है नहीं। केवल इस जीवने सम्बन्ध मान लिया है। इस माने हुए सम्बन्धकी सद्भावनापर अर्थात् ‘शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है’—इस सद्भावनापर ही संसार टिका हुआ है। इस सद्भावनाके मिटते ही संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जायगा और दैवी-सम्पत्तिके सम्पूर्ण गुण प्रकट हो जायँगे, जो कि मुक्तिके हेतु हैं।

दैवी-सम्पत्ति केवल अपने लिये ही नहीं है, प्रत्युत मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये है। जैसे गृहस्थमें छोटे, बड़े, बूढ़े आदि अनेक सदस्य होते हैं, पर सबका पालन-पोषण करनेके लिये गृहस्वामी (घरका मुखिया) स्वयं उद्योग करता है, ऐसे ही संसारमात्रका उद्धार करनेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको बनाया है। वह मनुष्य और तो क्या, भगवान्‌की दी हुई विलक्षण शक्तिके द्वारा भगवान्‌के सम्मुख होकर, भगवान्‌की सेवा करके उन्हें भी अपने वशमें कर सकता है। ऐसा विचित्र अधिकार उसे दिया है! अत: मनुष्य उस अधिकारके अनुसार यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग आदि जितना साधन-समुदाय है, उसका अनुष्ठान केवल अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंके कल्याणके लिये ही करे और दृढ़तासे यह संकल्प रखते हुए प्रार्थना करे कि ‘हे नाथ! मात्र जीवोंका कल्याण हो, मात्र जीव जीवन्मुक्त हो जायँ, मात्र जीव आपके अनन्य प्रेमी भक्त बन जायँ; पर हे नाथ! यह होगा केवल आपकी कृपासे ही। मैं तो केवल प्रार्थना कर सकता हूँ और वह भी आपकी दी हुई सद्बुद्धिके द्वारा ही!’ ऐसा भाव रखते हुए अपनी कहलानेवाली शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन-सम्पत्ति आदि सभी चीजोंको मात्र दुनियाके कल्याणके लिये भगवान्‌के अर्पण कर दे*। ऐसा करनेसे अपनी कहलानेवाली चीजोंकी तो संसारके साथ और अपनी भगवान्‌के साथ स्वत:सिद्ध एकता प्रकट हो जायगी। इसे भगवान्‌ने ‘**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**’ पदोंसे कहा है।

*** मात्र जीवोंके कल्याणका जो भाव है, वह भाव भी भगवान्‌की ही दी हुई विभूति (दैवी-सम्पत्ति) है, अपना नहीं है। अपने तो केवल भगवान् ही हैं।**

'**निबन्धायासुरी मता**'—जो जन्म-मरणको देनेवाली है, वह सब आसुरी-सम्पत्ति है।

जबतक मनुष्यकी अहंताका परिवर्तन नहीं होता, तबतक अच्छे-अच्छे गुण धारण करनेपर वे निरर्थक तो नहीं जाते, पर उनसे उसकी मुक्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि जबतक 'मेरा शरीर बना रहे, मेरेको सुख-आराम मिलता रहे' इस प्रकारके विचार अहंतामें बैठे रहेंगे, तबतक ऊपरसे भरे हुए दैवी-सम्पत्तिके गुण मुक्तिदायक नहीं होंगे। हाँ, यह बात तो हो सकती है कि वे गुण उसको शुभ फल देनेवाले हो जायँगे, ऊँचे लोक देनेवाले हो जायँगे, पर मुक्ति नहीं देंगे।

जैसे बीजको मिट्टीमें मिला देनेपर मिट्टी, जल, हवा, धूप—ये सभी उस बीजको ही पुष्ट करते हैं; आकाश भी उसे अवकाश देता है; बीजसे उसी जातिका वृक्ष पैदा होता है और उस वृक्षमें उसी जातिके फल लगते हैं। ऐसे ही अहंता-(मैं-पन-) में संसारके संस्काररूपी बीज रखते हुए जिस शुभ-कर्मको करेंगे, वह शुभ-कर्म उन बीजोंको ही पुष्ट करेगा और उन बीजोंके अनुसार ही फल देगा। तात्पर्य यह है कि सकाम मनुष्यकी अहंताके भीतर संसारके जो संस्कार पड़े हैं, उन संस्कारोंके अनुसार उसकी सकाम साधनामें अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ आयेंगी। उसमें और कुछ विशेषता भी आयेगी, तो वह ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें जाकर वहाँके ऊँचे-ऊँचे भोग प्राप्त कर सकता है, पर उसकी मुक्ति नहीं होगी (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

अब प्रश्न यह होता है कि मनुष्य मुक्तिके लिये क्या करे? उत्तर यह है कि जैसे बीजको भून दिया जाय या उबाल दिया जाय, तो वह बीज अंकुर नहीं देगा*। उस बीजको बोया जाय तो पृथ्वी उसको अपने साथ मिला लेगी। फिर यह पता ही नहीं चलेगा कि बीज था या नहीं! ऐसे ही मनुष्यका जब दृढ़ निश्चय हो जायगा कि मुझे केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है, तो संसारके सब बीज (संस्कार) अहंतामेंसे नष्ट हो जायँगे।

शरीर-प्राणोंमें एक प्रकारकी आसक्ति होती है कि मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ, मेरेको मान-बड़ाई मिलती रहे, मैं भोग भोगता रहूँ, आदि। इस प्रकार जो व्यक्तित्वको रखकर चलते हैं, उनमें अच्छे गुण आनेपर भी आसक्तिके कारण उनकी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण प्रकृतिका सम्बन्ध ही है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि जिसने प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध जोड़ा हुआ है, वह शुभ-कर्म करके ब्रह्मलोकतक भी चला जाय तो भी वह बन्धनमें ही रहेगा।

मार्मिक बात

भगवान्‌ने इस अध्यायमें आसुरी-सम्पदाके तीन फल बताये हैं, जिनमेंसे इस श्लोकमें '**निबन्धायासुरी मता**' पदोंसे बन्धनरूप सामान्य फल बताया है। दूसरे अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकोंमें वर्णित और नवें अध्यायके बीसवें-इक्कीसवें श्लोकोंमें वर्णित सकाम उपासक भी इसीमें आ जाते हैं। जिनका उद्देश्य केवल भोग भोगना और संग्रह करना है, ऐसे मनुष्योंकी बहुत शाखाओंवाली अनन्त बुद्धियाँ होती हैं अर्थात् उनकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं होता। जो कामनाओंमें तन्मय हैं और कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, वे वैदिक यज्ञादिको विधि-विधानसे करते हैं, पर कामनाओंके कारण उनको जन्म-मरणरूप बन्धन होता है (गीता—दूसरे अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक)। ऐसे ही जो यहाँके भोगोंको न चाहकर स्वर्गके दिव्य भोगोंकी कामनासे शास्त्रविहित यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके फलस्वरूप (स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट होनेसे) स्वर्गमें जाकर दिव्य भोग भोगते हैं। जब उनके (स्वर्ग देनेवाले) पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब वे वहाँसे लौटकर आवागमनको प्राप्त हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक)।

अब यहाँ शंका यह होती है कि जिस कृष्णमार्ग (गीता—आठवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)-से उपर्युक्त सकाम पुरुष जाते हैं, उसी मार्गसे योगभ्रष्ट पुरुष (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक) भी जाते हैं; अतः दोनोंका मार्ग एक होनेसे और दोनों पुनरावर्ती होनेसे सकाम पुरुषोंके समान योगभ्रष्ट पुरुषोंको भी '**निबन्धायासुरी मता**' वाला बन्धन होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि योगभ्रष्टोंको यह बन्धन नहीं होता। कारण कि पूर्व-(मनुष्यजन्ममें की हुई) साधनामें उनका उद्देश्य अपने कल्याणका रहा है और अन्त समयमें वासना, बेहोशी, पीड़ा आदिके कारण उनको विघ्नरूपसे स्वर्गादिमें जाना पड़ता है। अतः इन योगभ्रष्टोंके इस मार्गसे जानेके

* **भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥ (श्रीमद्भा० १०। २२। २६)**

कारण ही (गीता—आठवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें) सकाम पुरुषोंके लिये भी '**योगी**' पद आया है, अन्यथा सकाम पुरुष योगी कहे ही नहीं जा सकते।

आसुरी-सम्पत्तिका दूसरा फल है—'**पतन्ति नरकेऽशुचौ**' (गीता १६। १६)। जो कामनाके वशीभूत होकर पाप, अन्याय, दुराचार आदि करते हैं, उनको फलस्वरूप स्थानविशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है।

आसुरी-सम्पत्तिका तीसरा फल है—'**आसुरीष्वेव योनिषु**', '**ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (गीता १६। १९-२०)। जिनके भीतर दुर्गुण-दुर्भाव रहते हैं और कभी-कभी उनसे प्रेरित होकर वे दुराचार भी कर बैठते हैं, उनको दुर्गुण-दुर्भावके अनुसार पहले तो आसुरी योनिकी प्राप्ति और फिर दुराचारके अनुसार अधम गति-(नरकों-) की प्राप्ति बतायी गयी है।

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'—केवल अविनाशी परमात्माको चाहनेवालेकी दैवी-सम्पत्ति होती है, जिससे मुक्ति होती है और विनाशी संसारके भोग तथा संग्रहको चाहनेवालेकी आसुरी-सम्पत्ति होती है, जिससे बन्धन होता है—इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें कहीं यह शंका पैदा न हो जाय कि मुझे तो अपनेमें दैवी-सम्पत्ति दीखती ही नहीं! इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन! तुम दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो; अतः शोक-संदेह मत करो।'

दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हो जानेपर साधकके द्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगका साधन स्वाभाविक ही होता है। कर्तव्य-पालनसे कर्मयोगीके और ज्ञानाग्निसे ज्ञानयोगीके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ और सैंतीसवाँ श्लोक); परंतु भक्तियोगीके सभी पाप भगवान् नष्ट करते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक) और संसारसे उसका उद्धार करते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

'मा शुचः'*—तीसरे श्लोकमें '**भारत**', चौथे श्लोकमें '**पार्थ**' और इस पाँचवें श्लोकमें '**पाण्डव**'—इन तीन सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान् अर्जुनको उत्साह दिलाते हैं कि 'भारत! तुम्हारा वंश बड़ा श्रेष्ठ है; पार्थ! तुम उस माता-(पृथा-) के पुत्र हो, जो वैरभाव रखनेवालोंकी भी सेवा करनेवाली है; पाण्डव! तुम बड़े धर्मात्मा और श्रेष्ठ पिता-(पाण्डु-) के पुत्र हो'। तात्पर्य है कि वंश, माता और पिता—इन तीनों ही दृष्टियोंसे तुम श्रेष्ठ हो; अतः तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति भी स्वाभाविक है। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

गीतामें दो बार '**मा शुचः**' पद आये हैं—एक यहाँ और दूसरा अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें। इन पदोंका दो बार प्रयोग करके भगवान् अर्जुनको समझाते हैं कि तुझे साधन और सिद्धि—दोनोंके ही विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। साधनके विषयमें यहाँ यह आश्वासन दिया कि तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुआ है और सिद्धिके विषय (अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)-में यह आश्वासन दिया कि मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तात्पर्य यह है कि साधकको अपने साधनमें जो कमियाँ दीखती हैं, उनको तो वह दूर करता रहता है, पर कमियोंके कारण उसके अन्तःकरणमें नम्रताके साथ एक निराशा-सी रहती है कि मेरेमें अच्छे गुण कहाँ हैं, जिससे साध्यकी प्राप्ति हो! साधककी इस निराशाको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको साधकमात्रका प्रतिनिधि बनाकर उसे यह आश्वासन देते हैं कि तुम साधन और साध्यके विषयमें चिन्ता-शोक मत करो, निराश मत होओ।

दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी परिस्थिति, घटना आये, उनकी दृष्टि हमेशा अपने कल्याणकी तरफ ही रहती है। युद्धके मौकेपर जब भगवान्‌ने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा किया, तब उन सेनाओंमें खड़े अपने कुटुम्बियोंको देखकर अर्जुनमें कौटुम्बिक स्नेहरूपी मोह पैदा हो गया और वे करुणा तथा शोकसे व्याकुल होकर युद्धरूप कर्तव्यसे हटने लगे। उन्हें विचार हुआ कि युद्धमें कुटुम्बियोंको मारनेसे मुझे पाप ही लगेगा, जिससे मेरे कल्याणमें बाधा लगेगी। इन्हें मारनेसे हमें नाशवान् राज्य और सुखकी प्राप्ति तो हो जायगी, पर उससे श्रेय-(कल्याण-) की प्राप्ति रुक जायगी। इस प्रकार अर्जुनमें कुटुम्बका मोह और पाप-(अन्याय, अधर्म-) का भय—दोनों एक साथ आ जाते हैं। उनमें जो कुटुम्बका मोह है, वह आसुरी-सम्पत्ति है और पापके कारण अपने कल्याणमें बाधा लग जानेका जो भय है, वह दैवी-सम्पत्ति है।

इसमें भी एक खास बात है। अर्जुन कहते हैं कि हमने जो युद्ध करनेका निश्चय कर लिया है, यह भी एक महान् पाप है—'**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्**'

*** यहाँ 'मा शुचः' क्रिया दिवादिगणकी 'शुचिर् पूतीभावे' धातुके लुङ् लकारका रूप है।**

(१। ४५)। वे युद्ध-क्षेत्रमें भी भगवान्‌से बार-बार अपने कल्याणकी बात पूछते हैं—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२।७); '**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्**' (३। २); '**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्**' (५। १)। यह उनमें दैवी-सम्पत्ति होनेके कारण ही है। इसके विपरीत जिनमें आसुरी-सम्पत्ति है, ऐसे दुर्योधन आदिमें राज्य और धनका इतना लोभ है कि वे कुटुम्बके नाशसे होनेवाले पापकी तरफ देखते ही नहीं (पहले अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अर्जुनमें दैवी-सम्पत्ति आरम्भसे ही थी। मोहरूप आसुरी-सम्पत्ति तो उनमें आगन्तुक रूपसे आयी थी, जो आगे चलकर भगवान्‌की कृपासे नष्ट हो गयी—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**' (१८।७३)। इसीलिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन! तू चिन्ता मत कर; क्योंकि तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है।'

अर्जुनको अपनेमें दैवी-सम्पत्ति नहीं दीखती, इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट है। कारण कि जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको अपनेमें अच्छे गुण नहीं दीखते और अवगुण उनमें रहते नहीं। अपनेमें गुण न दीखनेका कारण यह है कि उनकी गुणोंके साथ अभिन्नता होती है। जैसे आँखमें लगा हुआ अंजन आँखको नहीं दीखता; क्योंकि वह आँखके साथ एक हो जाता है, ऐसे ही दैवी-सम्पत्तिके साथ अभिन्नता होनेपर गुण नहीं दीखते। जबतक अपनेमें गुण दीखते हैं, तबतक गुणोंके साथ एकता नहीं हुई है। गुण तभी दीखते हैं, जब वे अपनेसे कुछ दूर होते हैं। अतः भगवान् अर्जुनको आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक है, भले ही वह तुम्हें न दीखे; इसलिये तुम चिन्ता मत करो।

मार्मिक बात

भगवान्‌ने कृपा करके मानवशरीर दिया है, तो उसकी सफलताके लिये अपने भावों और आचरणोंका विशेष ध्यान रखना चाहिये। कारण कि शरीरका कुछ पता नहीं कि कब प्राण चले जायँ। ऐसी अवस्थामें जल्दी-से-जल्दी अपना उद्धार करनेके लिये दैवी-सम्पत्तिका आश्रय और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करना बहुत आवश्यक है।

दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द परमात्माका वाचक है और उनकी सम्पत्ति 'दैवी-सम्पत्ति' कहलाती है—'**देवस्येयं दैवी।**' परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक है। जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर जड प्रकृतिके सम्मुख हो जाता है अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील शरीरादि पदार्थोंका संग (तादात्म्य) कर लेता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है। कारण कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, द्वेष आदि जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब नाशवान्‌के संगसे ही पैदा होते हैं। जो प्राणोंको बनाये रखना चाहते हैं, प्राणोंमें ही जिनकी रति है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोगोंका वाचक '**असुर**' शब्द है—'**असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः**'। इसलिये 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ'—यह इच्छा आसुरी-सम्पत्तिका खास लक्षण है।

दैवी और आसुरी-सम्पत्ति सब प्राणियोंमें पायी जाती है (गीता—सोलहवें अध्यायका छठा श्लोक)। ऐसा कोई भी साधारण प्राणी नहीं है, जिसमें ये दोनों सम्पत्तियाँ न पायी जाती हों। हाँ, इसमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तो आसुरी-सम्पत्तिसे सर्वथा रहित हो जाते हैं*, पर दैवी-सम्पत्तिसे रहित कभी कोई हो ही नहीं सकता। कारण कि जीव 'देव' अर्थात् परमात्माका सनातन अंश है। परमात्माका अंश होनेसे इसमें दैवी-सम्पत्ति रहती ही है। आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता होनेसे दैवी-सम्पत्ति दब-सी जाती है, मिटती नहीं; क्योंकि सत्-वस्तु कभी मिट नहीं सकती। इसलिये कोई भी मनुष्य सर्वथा दुर्गुणी-दुराचारी नहीं हो सकता, सर्वथा निर्दयी नहीं हो सकता, सर्वथा असत्यवादी नहीं हो सकता, सर्वथा व्यभिचारी नहीं हो सकता। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे किसी भी व्यक्तिमें सर्वथा हो ही नहीं सकते। कोई भी, कभी भी, कितना ही दुर्गुणी-दुराचारी क्यों न हो, उसके साथ आंशिक सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होनेपर आसुरी-सम्पत्ति मिट जाती है; क्योंकि दैवी-सम्पत्ति परमात्माकी होनेसे अविनाशी है और आसुरी-सम्पत्ति संसारकी होनेसे नाशवान् है।

*** जीवन्मुक्त महापुरुष नाशवान्‌से असंग होकर अविनाशी परमात्मामें स्थित हो जाते हैं। इसलिये उनमें जीनेकी आशा और मरनेका भय नहीं रहता। सत्स्वरूप परमात्मामें स्थित होनेसे उनमें सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं। वे सिद्ध महापुरुष तो दैवी-सम्पत्तिसे ऊपर उठे रहते हैं। अतः उनमें दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक होते हैं, जो साधकोंके लिये आदर्श होते हैं।**

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका अंश होनेसे 'मैं सदा जीता रहूँ अर्थात् कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान लूँ अर्थात् कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सर्वदा सुखी रहूँ अर्थात् कभी दु:खी न होऊँ'—इस तरह सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा प्राणिमात्रमें रहती है। पर उससे गलती यह होती है कि 'मैं रहूँ तो शरीरसहित रहूँ; मैं जानकार बनूँ तो बुद्धिको लेकर जानकार बनूँ; मैं सुख लूँ तो इन्द्रियों और शरीरको लेकर सुख लूँ'—इस तरह इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है। इस प्रकार प्राणोंका मोह होनेसे आसुरी-सम्पत्ति रहती ही है*। इसमें एक मार्मिक बात है कि प्राणीमें नित्य-निरन्तर रहनेकी इच्छा होती है, तो यह नित्य-निरन्तर रह सकता है और मैं मरूँ नहीं, यह इच्छा होती है, तो यह मरता नहीं। जीता रहना अच्छा लगता है, तो जीते रहना इसका स्वाभाविक है और मरनेसे भय लगता है, तो मरना इसका स्वाभाविक नहीं है। ऐसे ही अज्ञान बुरा लगता है, तो अज्ञान इसका साथी नहीं है। दु:ख बुरा लगता है, तो दु:ख इसका साथी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि इसका स्वरूप 'सत्' है। 'असत्' इसका स्वरूप नहीं है। सत्-स्वरूप होकर भी यह असत्‌को क्यों चाहता है? कारण कि इसने नष्ट होनेवाले असत् शरीरादिको 'मैं' तथा 'मेरा' मान लिया है और उनमें आसक्त हो गया है। तात्पर्य यह कि असत्‌को स्वीकार करनेसे स्वयं सत् होते हुए भी सत्‌की इच्छा होती है; जडताको स्वीकार करनेसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हुए भी ज्ञानकी इच्छा होती है; दु:खरूप संसारको स्वीकार करनेसे स्वयं सुखस्वरूप होते हुए भी सुखकी इच्छा होती है। पर उसकी पूर्ति भी असत्-जड-दु:खरूप संसारके द्वारा ही करना चाहता है। तादात्म्यके कारण यह शरीरको ही रखना चाहता है, बुद्धिसे ही ज्ञानी बनना चाहता है, शरीरसे ही श्रेष्ठ और सुखी बनना चाहता है, अपने नाम और रूपको ही स्थायी रखना चाहता है। अपने नामको तो मरनेके बाद भी स्थायी रखना चाहता है, इस प्रकार असत्‌के संगसे आसुरी-सम्पत्ति आती है। ऐसे ही असत्‌के संगका त्याग करनेसे आसुरी-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

जब सत्संग, स्वाध्याय आदिके द्वारा मनुष्यमें परमात्मप्राप्ति करनेका विचार होता है, तब वह इसके लिये दैवी-सम्पत्तिको धारण करना चाहता है। दैवी-सम्पत्तिको वह कर्तव्यरूपसे उपार्जित करता है कि मुझे सत्य बोलना है, मुझे अहिंसक बनना है, मुझे दयालु बनना है, आदि-आदि। इस प्रकार जितने भी दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, उन गुणोंको वह अपने बलसे उपार्जित करना चाहता है। यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यरूपसे प्राप्त की हुई और अपने बल-(पुरुषार्थ-) से उपार्जित की हुई चीज स्वाभाविक नहीं होती, प्रत्युत कृत्रिम होती है। इसके अलावा अपने पुरुषार्थसे उपार्जित माननेके कारण अभिमान आता है कि मैं बड़ा सत्यभाषी हूँ, मैं बड़ा अच्छा आदमी हूँ, आदि। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं और अभिमानसे ही पुष्ट होते हैं। इसलिये अपने उद्योगसे किया हुआ जितना भी साधन होता है, उस साधनमें अहंकार ज्यों-का-त्यों रहता है और अहंकारमें आसुरी-सम्पत्ति रहती है। अत: जबतक वह दैवी-सम्पत्तिके लिये उद्योग करता रहता है, तबतक आसुरी-सम्पत्ति छूटती नहीं। अन्तमें वह हार मान लेता है अथवा उसका उत्साह कम हो जाता है, उसका प्रयत्न मंद हो जाता है और मान लेता है कि यह मेरे वशकी बात नहीं है। साधककी ऐसी दशा क्यों होती है? कारण कि उसने अभीतक यह जाना नहीं कि आसुरी-सम्पत्ति मेरेमें कैसे आयी? आसुरी-सम्पत्तिका कारण है—नाशवान्‌का संग। इसका संग जबतक रहेगा, तबतक आसुरी-सम्पत्ति रहेगी ही। वह नाशवान्‌के संगको नहीं छोड़ता, तो आसुरी-सम्पत्ति उसे नहीं छोड़ती अर्थात् 'आसुरी-सम्पत्ति' से वह सर्वथा रहित नहीं हो सकता। इसलिये यदि वह दैवी-सम्पत्तिको लाना चाहे, तो नाशवान् जडके संगका त्याग कर दे। नाशवान्‌के संगका त्याग करनेपर दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट होगी; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी सम्पत्ति उसमें स्वत:सिद्ध है, कर्तव्यरूपसे उपार्जित नहीं करनी है।

इसमें एक और मार्मिक बात है। दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वत:-स्वाभाविक रहते हैं। इन्हें कोई छोड़ नहीं सकता। इसका पता कैसे लगे? जैसे कोई विचार करे कि मैं सत्य ही बोलूँगा तो वह उम्रभर सत्य बोल सकता है। परन्तु कोई विचार करे कि मैं झूठ ही बोलूँगा, तो वह आठ पहर

*** देहाभिमानमें 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ' इस प्रकार प्राणोंका मोह रहता है। इसलिये देहाभिमानसे आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है। अत: गीतामें 'देहवद्भि:' (१२। ५), 'देहिनम्' (३। ४०; १४। ५,७) आदि पदोंसे जिन देहाभिमानियोंकी बात आयी है, उन्हें आसुरी-सम्पत्तिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये।**

भी झूठ नहीं बोल सकता। सत्य ही बोलनेका विचार होनेपर वह दु:ख भोग सकता है, पर झूठ बोलनेके लिये बाध्य नहीं हो सकता। परन्तु झूठ ही बोलूँगा—ऐसा विचार होनेपर तो खाना-पीना, बोलना-चलनातक उसके लिये मुश्किल हो जायगा। भूख लगी हो और झूठ बोले कि भूख नहीं है, तो जीना मुश्किल हो जायगा। यदि वह ऐसी प्रतिज्ञा कर ले कि झूठ बोलनेसे बेशक मर जाऊँ, पर झूठ ही बोलूँगा, तो यह प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। अत: या तो प्रतिज्ञा भंग होनेसे सत्य आ जायगा या प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। सत्य कभी छूटेगा नहीं; क्योंकि सत्य मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है। इस तरह दैवी-सम्पत्तिके जितने भी गुण हैं, सबके विषयमें ऐसी ही बात है। वे तो नित्य रहनेवाले और स्वाभाविक हैं। केवल नाशवान्‌के संगका त्याग करना है। नाशवान्‌का संग अनित्य और अस्वाभाविक है।

आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। दुर्गुण-दुराचार बिलकुल ही आगन्तुक हैं। कोई आदमी प्रसन्न रहता है, तो लोग ऐसा नहीं कहते कि तुम प्रसन्न क्यों रहते हो? पर कोई आदमी दु:खी रहता है, तब कहते हैं कि दु:खी क्यों रहते हो? क्योंकि प्रसन्नता स्वाभाविक है और दु:ख अस्वाभाविक (आगन्तुक) है। इसलिये अच्छे आचरण करनेवालेको कोई नहीं कहता कि तुम अच्छे आचरण क्यों करते हो? पर बुरे आचरणवालेको सब कहते हैं कि तुम बुरे आचरण क्यों करते हो? अत: सद्‌गुण-सदाचार स्वत: रहते हैं और दुर्गुण-दुराचार संगसे आते हैं, इसलिये आगन्तुक हैं।

अर्जुनमें दैवी-सम्पत्ति विशेषतासे थी। जब उनमें कायरता आ गयी, तब भगवान्‌ने आश्चर्यसे कहा कि तेरेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी (दूसरे अध्यायका दूसरा-तीसरा श्लोक)? तात्पर्य यह है कि अर्जुनमें यह दोष स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक है। पहले उनमें यह दोष था नहीं। अर्जुन आगे कहते हैं कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो, ऐसी बात कहिये (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरेका दूसरा और पाँचवेंका पहला श्लोक)। युद्धके प्रसंगमें भी अर्जुनमें 'मेरा कल्याण हो जाय' यह इच्छा है। तो इससे प्रतीत होता है कि अर्जुनके स्वभावमें पहलेसे ही दैवी-सम्पत्ति थी, नहीं तो उर्वशी-जैसी अप्सराको एकदम ठुकरा देना कोई मामूली आदमीकी बात नहीं थी। वे अर्जुन विचार करते हैं कि मेरेको दैवी-सम्पत्ति प्राप्त है कि नहीं? मैं उसका अधिकारी हूँ कि नहीं? अत: उसे आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं कि तू शोक मत कर; तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**' (१६। ५)।

सत् (चेतन) और असत्-(जड-) के तादात्म्यसे '**अहम्**'-भाव पैदा होता है। मनुष्य शुभ या अशुभ, कोई भी काम करता है, तो अपने अहंकारको लेकर करता है। जब वह परमात्माकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें सत्-अंशकी मुख्यता होती है और जब संसारकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें नाशवान् असत्-अंशकी मुख्यता होती है। सत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह दैवी-सम्पत्तिका अधिकारी कहा जाता है और असत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह उसका अनधिकारी कहा जाता है। असत्-अंशको मिटानेके लिये ही मानवशरीर मिला है। अतः मनुष्य निर्बल नहीं है, पराधीन नहीं है, प्रत्युत यह सर्वथा सबल है, स्वाधीन है। नाशवान्, असत्-अंश तो सबका मिटता ही रहता है, पर वह उससे अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। यह भूल होती है। नाशवान्‌से सम्बन्ध बनाये रखनेके कारण आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता।

अहंभाव नाशवान्, असत्‌के सम्बन्धसे ही होता है। असत्‌का सम्बन्ध मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे ही अहंभाव है। अहम्‌में जड-चेतन दोनों हैं। तादात्म्य होनेसे पुरुष-(चेतन-) ने जडके साथ अपनेको एक मान लिया। भोगपदार्थोंकी सब इच्छाएँ असत्-अंशमें ही रहती हैं। परन्तु सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु बनता है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३। २०)। वास्तवमें हेतु है नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिस्थ होनेसे ही भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते**' (१३। २१)। अतः सुख-दुःखरूप जो विकार होता है, वह मुख्यतासे जड-अंशमें ही होता है। परन्तु तादात्म्य होनेसे उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। जैसे विवाह होनेपर स्त्रीकी जो आवश्यकता होती है, वह अपनी आवश्यकता कहलाती है। पुरुष जो गहने आदि खरीदता है, वह स्त्रीके सम्बन्धसे ही (स्त्रीके लिये) खरीदता है, नहीं तो उसे अपने लिये गहने आदिकी आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही जड-अंशके सम्बन्धसे ही चेतनमें जडकी इच्छा और जडका भोग होता है। जडका भोग जड-अंशमें ही होता है, पर जडसे तादात्म्य होनेसे भोगका परिणाम केवल जडमें नहीं हो सकता अर्थात्

सुख-दु:खका भोक्ता केवल जड-अंश नहीं बन सकता। परिणामका ज्ञाता चेतन ही भोक्ता बनता है। जितनी क्रियाएँ होती हैं, सब प्रकृतिमें होती हैं (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ और तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), पर तादात्म्यके कारण चेतन उन्हें अपनेमें मान लेता है कि मैं कर्ता हूँ। तादात्म्यमें चेतन (परमात्मा)-की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और जड-(संसार-) की इच्छामें जडकी मुख्यता रहती है। जब चेतनकी मुख्यता रहती है, तब दैवी-सम्पत्ति आती है और जब जडकी मुख्यता रहती है, तब आसुरी-सम्पत्ति आती है। जडसे तादात्म्य रहनेपर भी सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा चेतनमें ही रहती है। संसारकी ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जो इन तीन (सदा रहना, सब कुछ जानना और सदा सुखी रहना) इच्छाओंमें सम्मिलित न हो। इससे गलती यह होती है कि इन इच्छाओंकी पूर्ति जड-(संसार-) के द्वारा करना चाहता है।

जडको और आसुरी-सम्पत्तिको स्वयं-(चेतन-) ने स्वीकार किया है। जडमें यह ताकत नहीं है कि वह स्वयंके साथ स्थिर रह जाय। जडमें तो हरदम परिवर्तन होता रहता है। चेतन उसको न पकड़े, तो वह अपने-आप छूट जायगा। कारण कि चेतनमें कभी विकार नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। पर असत् प्रकृति नित्य-निरन्तर, हरदम बदलती रहती है। वह कभी एकरूप रह ही नहीं सकती। चेतनने प्रकृतिके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। उस सम्बन्धकी सत्ता यह 'मैं' और 'मेरे'-रूपसे स्वीकार कर लेता है। अत: जडका सम्बन्ध और उससे पैदा होनेवाली आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। यदि यह स्वयंमें होती, तो इसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि स्वयंका कभी नाश नहीं होता और आसुरी-सम्पत्तिके त्यागकी बात ही नहीं होती। अनित्य होनेपर भी चेतनके सम्बन्धसे यह नित्य दीखने लगती है। अविनाशीके सम्बन्धसे विनाशी भी अविनाशीकी तरह दीखने लगता है। इसलिये जिस मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति होती है, वह आसुरी-सम्पत्तिका त्याग कर सकता है और कल्याणका आचरण करके परमात्माको प्राप्त हो सकता है (सोलहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

परमात्माके सम्मुख होते ही आसुरी-सम्पत्ति मिटने लगती है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

कारण कि '**जन्म कोटि अघ**' प्रकृतिसे सम्बन्ध स्वीकार करनेसे ही हुए हैं। प्रकृतिको स्वीकार न करें, तो फिर कैसे जन्म-मरण होगा? जन्म-मरणमें कारण प्रकृतिसे सम्बन्ध ही है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। परन्तु जीवात्मा प्रकृतिकी क्रियाको अपनेमें मान लेता है और प्रकृतिके कार्य शरीरमें मैं-मेरापन कर लेता है, जिससे जन्मता-मरता रहता है। वास्तवमें यह कर्ता भी नहीं है और लिप्त भी नहीं है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१)। इस वास्तविकताका अनुभव करना ही 'कर्ममें अकर्म' तथा 'अकर्ममें कर्म' देखना है। इन दोनों बातोंका अभिप्राय यह है कि कर्म करते हुए भी यह सर्वथा निर्लिप्त तथा अकर्ता है और निर्लिप्त तथा अकर्ता रहते हुए ही यह कर्म करता है अर्थात् कर्म करते समय और कर्म न करते समय यह (आत्मा) नित्य-निरन्तर निर्लिप्त तथा अकर्ता रहता है। इस वास्तविकताका अनुभव करनेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है (चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिसमें कर्तापनका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें लिप्तता नहीं है अर्थात् कोई भी कामना नहीं है, वह यदि सब प्राणियोंको मार दे, तो भी पाप नहीं लगता (अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। अर्जुनने पूछा कि मनुष्य किससे प्रेरित होकर पाप करता है? तो भगवान्ने कहा—कामनासे (तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)। कामनाके कारण ही सब पाप होते हैं। शरीरके तादात्म्यसे भोग और संग्रहकी कामना होती है*। अत: जडका संग (महत्त्व) ही सम्पूर्ण पापोंका—आसुरी-सम्पत्तिका कारण है। जडका संग न हो, तो दैवी-सम्पत्ति स्वत:सिद्ध है।

अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं। इसलिये अर्जुनके निमित्तसे भगवान् साधकमात्रको आश्वासन देते हैं कि चिन्ता मत करो; अपनेमें आसुरी-सम्पत्ति दीख जाय, तो घबराओ मत; क्योंकि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वत:-स्वाभाविक विद्यमान है—

*** कोई भी मनुष्य अपनेको दोषी बनाना पसंद नहीं करता; क्योंकि इस लोकमें दोषीका अपमान, तिरस्कार और निन्दा होती है तथा परलोकमें चौरासी लाख योनियाँ तथा नरक भोगने पड़ते हैं। परन्तु मनुष्य नाशवान् जडके संगसे पैदा हुई कामनाके वशीभूत होकर न करनेलायक शास्त्र-निषिद्ध क्रिया कर बैठता है। अत: उस क्रियाका परिणाम कर्ता (मनुष्य)-की रुचिके (मैं निर्दोष रहूँ—इसके) अनुसार नहीं होता और कर्ता—(अपनी रुचिके विरुद्ध) दोषी तथा पापी बन जाता है।**

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।

(१६। ५)

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको पारमार्थिक उन्नतिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेसे मनुष्यमात्रमें परमात्माकी सम्पत्ति (दैवी-सम्पत्ति) रहती ही है। परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट हो जाती है।

परमात्माका अंश होनेके नाते साधकको परमात्मप्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माने कृपा करके मनुष्य-शरीर अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है। इसलिये परमात्माका संकल्प तो हमारे कल्याणका ही है। यदि हम अपना अलग कोई संकल्प न रखें, प्रत्युत परमात्माके संकल्पमें ही अपना संकल्प मिला दें, तो फिर उनकी कृपासे स्वत: कल्याण हो ही जाता है।

परिशिष्ट भाव—जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्‌की ओर चलता है, तब उसमें दैवी-सम्पत्ति आती है और जब वह संसारकी ओर चलता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आती है। दैवी-सम्पत्तिमें आस्तिक भाव रहता है और आसुरी-सम्पत्तिमें नास्तिक भाव रहता है। यद्यपि मुक्तिके सभी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि) दैवी-सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं—**'दैवी-सम्पद्विमोक्षाय',** तथापि दैवी-सम्पत्तिमें मुख्यता भक्तिकी ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भक्तिके प्रकरणमें कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।'

आगे भी भगवान्‌ने कहा है—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय—'** (१६। २०)। भक्तिके अन्तर्गत मुक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। जिनको अपने प्राणोंसे प्यार होता है, वे प्राणपोषणपरायण मनुष्य आसुरी-सम्पत्तिवाले होते हैं। परन्तु जो भगवान्‌को अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा मानते हैं, वे दैवी-सम्पत्तिवाले होते हैं।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, शरीरके आराम, मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी-सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी-सम्पत्ति आती है।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है। कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी-सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी-सम्पत्ति भी आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान नहीं होता। गुणोंकी महत्ता न दीखनेसे साधककी दृष्टि अपने गुणोंकी तरफ नहीं जाती, जिससे वह घबरा जाता है*। अपने गुणोंकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही अर्जुन घबरा जाते हैं कि मेरेमें दैवी-सम्पत्ति है ही नहीं! ऐसी दशामें उनकी चिन्ताको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—**'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'**।

*** एक बार एक साधु बड़े व्याकुल होकर बोले कि गीतामें मेरी श्रद्धा नहीं है, मेरी क्या दशा होगी! क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (४। ४०)। मैंने कहा कि श्रद्धा न करनेवालेका नाश हो जाता है—यह बात लिखी किसमें है? वे बोले—गीतामें। मैंने कहा कि गीतामें लिखी बातसे आपको घबराहट हुई तो यह गीतापर श्रद्धा नहीं तो क्या है? यह बात सुनते ही वे प्रसन्न हो गये!**

सम्बन्ध—सम्पूर्ण प्राणियोंमें चेतन और जड—दोनों अंश रहते हैं। उनमेंसे कई प्राणियोंका जडतासे विमुख होकर चेतन-(परमात्मा-) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है और कई प्राणियोंका चेतनसे विमुख होकर जडता-(भोग और संग्रह-) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है। इस प्रकार चेतन और जडकी मुख्यताको लेकर प्राणियोंके दो भेद हो जाते हैं, जिनको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

अस्मिन्	= इस	**दैवः**	= दैवी	**प्रोक्तः**	= कह दिया, (अब)
लोके	= लोकमें	**च**	= और	**पार्थ**	= हे पार्थ! (तुम)
द्वौ	= दो तरहके	**आसुरः**	= आसुरी।	**मे**	= मुझसे
एव	= ही	**दैवः**	= दैवीको तो (मैंने)	**आसुरम्**	= आसुरीको (विस्तारसे)
भूतसर्गौ	= प्राणियोंकी सृष्टि है—	**विस्तरशः**	= विस्तारसे	**शृणु**	= सुनो।

व्याख्या—‘**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च**’—आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये उसका उपक्रम करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस लोकमें प्राणिसमुदाय दो तरहका है—दैव और आसुर। तात्पर्य यह है कि प्राणिमात्रमें परमात्मा और प्रकृति—दोनोंका अंश है। (गीता—दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ और अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)। परमात्माका अंश चेतन है और प्रकृतिका अंश जड है। वह चेतन अंश जब परिवर्तनशील जड-अंशके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है और जब वह जड प्रकृतिसे विमुख होकर केवल परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें दैवी-सम्पत्ति जाग्रत् हो जाती है।

‘देव’ नाम परमात्माका है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने भी सद्गुण-सदाचार आदि साधन हैं, वे सब दैवी-सम्पदा हैं। जैसे भगवान् नित्य हैं, ऐसे ही उनकी साधन-सम्पत्ति भी नित्य है। भगवान्ने परमात्मप्राप्तिके साधनको ‘अव्यय’ अर्थात् अविनाशी कहा है—‘**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**’ (गीता ४। १)।

‘**द्वौ भूतसर्गौ**’ में ‘भूत’ शब्दसे मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी लिये जा सकते हैं। परन्तु आसुर स्वभावका त्याग करनेकी विवेकशक्ति मुख्य-रूपसे मनुष्यशरीरमें ही है। इसलिये मनुष्यको आसुर स्वभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उसका त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट हो जाती है।

मनुष्यमें दैवी और आसुरी—दोनों सम्पत्तियाँ रहती हैं—

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥

(मानस ५। ४०। ३)

क्रूर-से-क्रूर कसाईमें भी दया रहती है, चोर-से-चोरमें भी साहूकारी रहती है। इसी तरह दैवी-सम्पत्तिसे रहित कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि जीवमात्र परमात्माका अंश है। उसमें दैवी-सम्पत्ति स्वत:-स्वाभाविक है और आसुरी-सम्पत्ति अपनी बनायी हुई है। सच्चे हृदयसे परमात्माकी तरफ चलनेवाले साधकोंको आसुरी-सम्पत्ति निरन्तर खटकती है, बुरी लगती है और उसको दूर करनेका वे प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु जो लोग भजन-स्मरणके साथ आसुरी-सम्पत्तिका भी पोषण करते रहते हैं अर्थात् कुछ भजन-स्मरण, नित्यकर्म आदि भी कर लेते हैं और सांसारिक भोग तथा संग्रहमें भी सुख लेते हैं और उसे आवश्यक समझते हैं, वे वास्तवमें साधक नहीं कहे जा सकते। कारण कि कुछ दैव स्वभाव और कुछ आसुर स्वभाव तो नीच-से-नीच प्राणीमें भी स्वाभाविक रहता है।

एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि अहंताके अनुरूप प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्तिके अनुसार अहंताकी दृढ़ता होती है। जिसकी अहंतामें ‘मैं सत्यवादी हूँ’ ऐसा भाव होगा, वह सत्य बोलेगा और सत्य बोलनेसे उसकी सत्यनिष्ठा दृढ़ हो जायगी। फिर वह कभी असत्य नहीं बोल सकेगा। परन्तु जिसकी अहंतामें ‘मैं संसारी हूँ और संसारके भोग भोगना और संग्रह करना मेरा काम है’ ऐसे भाव होंगे, उसको झूठ-कपट करते देरी नहीं लगेगी। झूठ-कपट करनेसे उसकी अहंतामें ये भाव दृढ़ हो जाते हैं कि ‘बिना

झूठ-कपट किये किसीका काम चल ही नहीं सकता, जिसमें भी आजकलके जमानेमें तो ऐसा करना ही पड़ता है, इससे कोई बच नहीं सकता' आदि। इस प्रकार अहंतामें दुर्भाव आनेसे ही दुराचारोंसे छूटना कठिन हो जाता है और इसी कारण लोग दुर्गुण-दुराचारको छोड़ना कठिन या असम्भव मानते हैं।

परमात्माका अंश होनेसे सद्भावसे रहित कोई नहीं हो सकता और शरीरके साथ अहंता-ममता रखते हुए दुर्भावसे सर्वथा रहित कोई नहीं हो सकता। दुर्भावोंके आनेपर भी सद्भावका बीज कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि सद्भाव 'सत्' है और सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (२। १६)। इसके विपरीत दुर्भाव कुसंगसे उत्पन्न होनेवाले हैं और उत्पन्न होनेवाली वस्तु नित्य नहीं होती—**'नासतो विद्यते भावः'** (२। १६)।

मनुष्योंकी सद्भाव या दुर्भावकी मुख्यताको लेकर ही प्रवृत्ति होती है। जब सद्भावकी मुख्यता होती है, तब वह सदाचार करता है और जब दुर्भावकी मुख्यता होती है, तब वह दुराचार करता है। तात्पर्य है कि जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, उसमें सद्भावकी मुख्यता हो जाती है और दुर्भाव मिटने लगते हैं और जिसका उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रहका हो जाता है, उसमें दुर्भावकी मुख्यता हो जाती है और सद्भाव छिपने लगते हैं।

'लोकेऽस्मिन्' का तात्पर्य है कि नये-नये अधिकार पृथ्वीमण्डलमें ही मिलते हैं। पृथ्वीमण्डलमें भी भारत-क्षेत्रमें विलक्षण अधिकार प्राप्त होते हैं। भारतभूमिपर जन्म लेनेवाले मनुष्योंकी देवताओंने भी प्रशंसा की है*। कल्याणका मौका मनुष्यलोकमें ही है। इस लोकमें आकर मनुष्यको विशेष सावधानीसे दैवी-सम्पत्ति जाग्रत् करनी चाहिये। भगवान्ने विशेष कृपा करके ही यह मनुष्यशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७। ४४। ३)

जिन प्राणियोंको भगवान् मनुष्य बनाते हैं, उनपर भगवान् विश्वास करते हैं कि ये अपना कल्याण (उद्धार) करेंगे। इसी आशासे वे मनुष्यशरीर देते हैं। भगवान्ने विशेष कृपा करके मनुष्यको अपनी प्राप्तिकी सामग्री और योग्यता दे रखी है और विवेक भी दे रखा है। इसलिये **'लोकेऽस्मिन्'** पदसे विशेषरूपसे मनुष्यकी ओर ही लक्ष्य है। परन्तु भगवान् तो प्राणिमात्रमें समानरूपसे रहते हैं—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९)। जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ उनकी सम्पत्ति भी रहती है, इसलिये **'भूतसर्गौ'** पद दिया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणिमात्र भगवान्की तरफ चल सकता है। भगवान्की तरफसे किसीको मना नहीं है।

मनुष्योंमें जो सर्वथा दुराचारोंमें लगे हुए हैं, वे चाण्डाल और पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि पापयोनिवालोंकी अपेक्षा भी अधिक दोषी हैं। कारण कि पापयोनिवालोंका तो पहलेके पापोंके कारण परवशतासे पापयोनिमें जन्म होता है और वहाँ उनका पुराने पापोंका फलभोग होता है; परन्तु दुराचारी मनुष्य यहाँ जान-बूझकर बुरे आचरणोंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् नये पाप करते हैं। पापयोनिवाले तो पुराने पापोंका फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं और दुराचारी नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाते हैं। ऐसे दुराचारियोंके लिये भी भगवान्ने कहा है कि यदि अत्यन्त दुराचारी भी मेरे अनन्य शरण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त कर लेता है (नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक)। ऐसे ही पापी-से-पापी भी ज्ञानरूपी नौकासे सब पापोंको तरकर अपना उद्धार कर लेता है (चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह कि जब दुराचारी-से-दुराचारी और पापी-से-पापी व्यक्ति भी

***(१) अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।**
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ (श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

'अहो! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं।'

(२) गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ (श्रीविष्णुपुराण २। ३। २४)

'देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्गके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक धन्य (बड़भागी) हैं।'

भक्ति और ज्ञान प्राप्त करके अपना उद्धार कर सकता है, तो फिर अन्य पापयोनियोंके लिये भगवान्‌की तरफसे मना कैसे हो सकती है? इसलिये यहाँ 'भूत' (प्राणिमात्र) शब्द दिया है।

मानवेतर प्राणियोंमें भी दैवी प्रकृतिके पाये जानेकी बहुत बातें सुनने, पढ़ने तथा देखनेमें आती हैं। ऐसे कई उदाहरण आते हैं, जिसमें पशु-पक्षियोंकी योनिमें भी दैवी गुण होनेकी बात आती है*। कई कुत्ते ऐसे भी देखे गये हैं, जो अमावस्या, एकादशी आदिका व्रत रखते हैं और उस दिन अन्न नहीं खाते। सत्संगमें भी मनुष्येतर प्राणियोंके आकर बैठनेकी बातें सुनी हैं। सत्संगमें साँपको भी आते देखा है। गोरखपुरमें जब बारह महीनोंका कीर्तन हुआ था, तब एक काला कुत्ता कीर्तन-मण्डलीके बीचमें चलता और जहाँ सत्संग होता, वहाँ बैठ जाता। ऋषिकेश-(स्वर्गाश्रम-) में वटवृक्षके नीचे एक साँप आया करता था। वहाँ एक सन्त थे। एक दिन उन्होंने साँपसे कहा 'ठहर' तो वह ठहर गया। सन्तने उसे गीता सुनायी, तो वह चुपचाप बैठा रहा। गीता पूरी होते ही साँप वहाँसे चला गया और फिर कभी वहाँ नहीं आया। (इस तरहके पशु-पक्षियोंमें ऐसी प्रकृति पूर्वसंस्कारवश स्वाभाविक होती है।)

इस प्रकार पशु-पक्षियोंमें भी दैवी-सम्पत्तिके गुण देखनेमें आते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वहाँ दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विकासका क्षेत्र और योग्यता नहीं है। उनके विकासका क्षेत्र और योग्यता केवल मनुष्यशरीरमें ही है।

पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी, वृक्ष, लता आदि जितने भी जंगम-स्थावर प्राणी हैं, उन सभीमें दैवी और आसुरी-सम्पत्तिवाले प्राणी होते हैं। मनुष्यको उन सबकी रक्षा करनी ही चाहिये; क्योंकि सबकी रक्षाके लिये, सबका प्रबन्ध करनेके लिये ही यह मनुष्य बनाया गया है। उनमें भी जो सात्त्विक पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी आदि हैं, उनकी तो विशेषतासे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि उनकी रक्षासे हमारेमें दैवी-सम्पत्ति बढ़ती है। जैसे, गोमाता हमारी पूजनीया है तो हमें उसकी रक्षा और पालन करना चाहिये; क्योंकि गाय सम्पूर्ण सृष्टिका कारण है—**'गावो विश्वस्य मातरः।'** गायके घीसे ही यज्ञ होता है; भैंस आदिके घीसे नहीं। यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न और अन्नसे प्राणी पैदा होते हैं। उन प्राणियोंमें खेतीके लिये बैलोंकी जरूरत होती है। वे बैल गायोंके होते हैं। बैलोंसे खेती होती है अर्थात् बैलोंसे

* महाभारतके शान्तिपर्वमें इसी प्रसंगकी एक कथा आती है। शकुनिलुब्धक नामका एक बधिक था। उसका मुख्य काम पशु-पक्षियोंको मारना ही था। एक दिन वह शिकारके लिये जंगलमें गया। दिनभर घूमता रहा, पर खानेको कुछ मिला नहीं। अकस्मात् आकाश बादलोंसे भर गया और जोरोंसे आँधी-वर्षा होने लगी। वह बधिक एक वृक्षके नीचे आकर बैठ गया।

उसी वृक्षपर दम्पती कपोत और कपोती रहते थे। चुग्गा चुगनेके लिये दोनों बाहर गये हुए थे। बरसातके कारण कपोती जल्दी आ गयी। पंख गीले होनेसे वह ठिठुरकर नीचे गिर पड़ी, तो बधिकने उसको पकड़कर अपने पिंजड़ेमें बंद कर लिया। जब कपोत घरपर आया, तो कपोतीको वहाँ न देखकर विलाप करने लगा। उसके विलापको सुनकर कपोती बोली कि 'हे प्राणनाथ! आप मेरे लिये इतना विलाप क्यों करते हैं? आप अपने कर्तव्यका पालन कीजिये। हमारे स्थानपर आये हुए अतिथिकी आप रक्षा कीजिये। अतिथिका सत्कार करना गृहस्थका खास कर्तव्य है। इसका किसी तरह जाड़ा छूटे, भूख मिटे—ऐसा आपको प्रबन्ध करना चाहिये। मैं तो पिंजड़ेमें पड़ी हूँ!' अपनी स्त्रीकी बात सुनकर कपोतने अपनी चोंचसे सूखे पत्ते एवं छोटी-छोटी सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। फिर किसी घरसे जलती हुई लकड़ी लाकर अग्नि कर दी। वह बधिक सरदीसे ठिठुर रहा था। अग्निकी गरमीसे जब कुछ ठीक हुआ, तो उसने कपोतसे कहा कि 'मुझे भूख लग रही है, क्या करूँ?' कपोत बोला कि 'आप चिन्ता न करें। आप मेरे अतिथि हो; अतः मैं आपकी भूख मिटानेका प्रबन्ध करूँगा।' कपोतने थोड़ी देर विचार किया। परन्तु उसे अपने-आपको अग्निमें गिरानेके अलावा कोई दूसरा उपाय सूझा नहीं। अतः वह अग्निकी तीन परिक्रमा करके उसमें कूद पड़ा। उसको अग्निमें जलते हुए देखकर बधिकके मनमें विचार आया कि इस कपोतने मुझे कितना आराम दिया है! भोजनके लिये तो इसने अपने-आपको ही दे दिया है! हाय-हाय! मैं कितना क्रूर, निर्दयी पापी हूँ! यह पक्षी होकर भी इतना आदर करता है और मैं मनुष्य होकर भी ऐसा क्रूर काम करता हूँ! आजसे मैं कभी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा। ऐसा निश्चय करके उसने पिंजड़ेमेंसे कपोतीको छोड़ दिया। अपने पतिदेवके अभावमें वह कपोती विलाप करने लगी कि पतिदेवके बिना मैं रहकर क्या करूँगी? ऐसे विलाप करते हुए वह भी अग्निमें कूद पड़ी। इतनेमें उन दोनों (कपोत और कपोती)-को लेने विमान आया और वे दोनों उस विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको चले गये।

उनको इस प्रकार विमानमें जाते हुए देखकर बधिकने अपने सब अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये। उसने विचार किया कि अब मैं भजन-स्मरण करूँगा और त्याग-तपस्या करके शरीरको सुखा डालूँगा—कुछ खाऊँगा-पिऊँगा नहीं। इस तरहका विचार करके वह काँटोंसे भरे जंगलमें चला गया! काँटोंसे उसका शरीर छिल गया! आगे वनमें चारों ओरसे आग (दावाग्नि) लगी हुई थी। उसी आगमें घुसकर वह जलकर मर गया। अन्त समयमें भजन-स्मरण करनेसे उसकी सद्‌गति हो गयी।

हल आदि जोतकर तथा कुएँ आदिके जलसे सींचकर खेती की जाती है। खेतीसे अन्न, वस्त्र आदि निर्वाहकी चीजें पैदा होती हैं, जिनसे मनुष्य, पशु आदि सभीका जीवन-निर्वाह होता है। निर्वाहमें भी गायके घी-दूध हमारे खाने-पीनेके काम आते हैं। उन घी-दूधसे हमारे शरीरमें बल और अन्त:करणमें सात्त्विक भाव बढ़ते हैं। इसी तरहसे जितनी जड़ी-बूटियाँ हैं, उनमेंसे सात्त्विक जड़ी-बूटीसे कायाकल्प होता है, रोग दूर होता है और शरीर पुष्ट होता है। इसलिये हमलोगोंको सात्त्विक पशु, पक्षी, जड़ी-बूटी आदिकी विशेष रक्षा करनी चाहिये, जिससे हमारे इहलोक और परलोक दोनों सुधर जायँ।

'दैवो विस्तरशः प्रोक्तः'—भगवान् कहते हैं कि दैवी-सम्पत्तिका मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें नौ, दूसरे श्लोकमें ग्यारह और तीसरे श्लोकमें छ:—इस तरह दैवी-सम्पत्तिके कुल छब्बीस लक्षणोंका वर्णन किया गया है। इससे पहले भी गुणातीतके लक्षणोंमें (चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक), ज्ञानके बीस साधनोंमें (तेरहवें अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक), भक्तोंके लक्षणोंमें (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक), कर्मयोगीके लक्षणोंमें (छठे अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक) और स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें (दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक) दैवी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

'आसुरं पार्थ मे शृणु'—भगवान् कहते हैं कि अब तू मुझसे आसुरी-सम्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुन अर्थात् जो मनुष्य केवल प्राण-पोषणपरायण होते हैं, उनका स्वभाव कैसा होता है—यह मेरेसे सुन।

परिशिष्ट भाव—दैवी और आसुरी—यह दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि मनुष्यलोकमें होनेसे लौकिक है। अलौकिक तत्त्वमें ये दोनों ही नहीं हैं। साधन भी लौकिक और अलौकिक दोनों होते हैं, पर साध्य अलौकिक ही होता है। अलौकिक तत्त्व व्यापक, अनन्त-अपार है। लौकिक भी उसीके अन्तर्गत है। वास्तवमें लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। सब कुछ अलौकिक ही है। जीवने ही लौकिकको धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। तात्पर्य है कि जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तभीतक 'लौकिक' है। संसारकी सत्ता न रहनेपर सब 'अलौकिक' ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**, **'सदसच्चाहम्'**।

सम्बन्ध—भगवान्से विमुख मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति किस क्रमसे आती है, उसका आगेके श्लोकमें वर्णन करते हैं।*

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुराः	= आसुरी प्रकृतिवाले	**न**	= नहीं	**आचारः**	= श्रेष्ठ आचरण
जनाः	= मनुष्य	**विदुः**	= जानते		
प्रवृत्तिम्	= किसमें प्रवृत्त होना चाहिये	**च**	= और	**च**	= तथा
		तेषु	= उनमें	**न**	= न
च	= और	**न**	= न तो	**सत्यम्**	= सत्य-पालन
निवृत्तिम्	= किससे निवृत्त होना चाहिये (—इसको)	**शौचम्**	= बाह्य शुद्धि,	**अपि**	= ही
		न	= न	**विद्यते**	= होता है।

*** आरम्भमें ही अच्छी शिक्षा न मिलनेसे वे आसुर प्राणी क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, शरीरकी शुद्धि क्या होती है और अशुद्धि क्या होती है, खान-पान क्या शुद्ध होता है और क्या अशुद्ध होता है, बड़ों और छोटोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये, वाणी आदिका सत्य क्या होता है और असत्य क्या होता है—इन सब बातोंको नहीं जानते अर्थात् अच्छी शिक्षाके अभावमें वे प्रवृत्ति और निवृत्तिको, शौचको, सदाचारको और सत्यको नहीं जानते। इस कारण वे सत्य तत्त्व परमात्मासे विमुख हो जाते हैं। परमात्मासे विमुख होनेसे वे न ईश्वर, धर्म आदिको मानते हैं और न उनकी मर्यादाको ही मानते हैं। वे स्त्री-पुरुषके संगसे ही संसारकी उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे दूसरोंको दुःख देते हैं और अपना महान् पतन कर लेते हैं।**

व्याख्या—**'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः'**—आजकलके उच्छृंखल वातावरण, खान-पान, शिक्षा आदिके प्रभावसे प्रायः मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको अर्थात् किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते और जानना चाहते भी नहीं। कोई इसको बताना चाहे, तो उसकी मानते नहीं, प्रत्युत उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसे मूर्ख समझते हैं और अभिमानके कारण अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं। कुछ लोग (प्रवृत्ति और निवृत्तिको) जानते भी हैं, पर उनपर आसुरी-सम्पदाका विशेष प्रभाव होनेसे उनकी विहित कार्योंमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्योंसे निवृत्ति नहीं होती। इस कारण सबसे पहले आसुरी-सम्पत्ति आती है—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे।

प्रवृत्ति और निवृत्तिको कैसे जाना जाय? इसे गुरुके द्वारा, ग्रन्थके द्वारा, विचारके द्वारा जाना जा सकता है। इसके अलावा उस मनुष्यपर कोई आफत आ जाय, वह मुसीबतमें फँस जाय, कोई विचित्र घटना घट जाय, तो विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। किसी महापुरुषके दर्शन हो जानेसे पूर्वसंस्कारवश मनुष्यकी वृत्ति बदल जाती है अथवा जिन स्थानोंपर बड़े-बड़े प्रभावशाली सन्त हुए हैं, उन स्थलोंमें, तीर्थोंमें जानेसे भी विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है।

विवेकशक्ति प्राणिमात्रमें रहती है। परन्तु पशु-पक्षी आदि योनियोंमें इसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता नहीं है एवं मनुष्यमें उसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता भी है। पशु-पक्षी आदिमें वह विवेकशक्ति केवल अपने शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहती है पर मनुष्य उस विवेकशक्तिसे अपना और अपने परिवारका तथा अन्य प्राणियोंका भी पालन-पोषण कर सकता है, और दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्‌गुण-सदाचारोंको भी ला सकता है। मनुष्य इसमें सर्वथा स्वतन्त्र है; क्योंकि वह साधन-योनि है। परन्तु पशु-पक्षी इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं; क्योंकि वह भोग-योनि है।

जब मनुष्योंकी खाने-पीने आदिमें ही विशेष वृत्ति रहती है, तब उनमें कर्तव्य-अकर्तव्यका होश नहीं रहता। ऐसे मनुष्योंमें पशुओंकी तरह दैवी-सम्पत्ति छिपी हुई रहती है, सामने नहीं आती। ऐसे मनुष्योंके लिये भी भगवान्‌ने **'जनाः'** पद दिया है अर्थात् वे भी मनुष्य कहलानेके लायक हैं; क्योंकि उनमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो सकती है।

विशेष बात

'जनाः' (१६।७) से लेकर **'नराधमान्'** (१६।१९) पदतक बीचमें आये हुए श्लोकोंमें कहीं भी भगवान्‌ने मनुष्यवाचक शब्द नहीं दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेकी तथा दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेकी योग्यता है, तथापि जो मनुष्य होकर भी दैवी-सम्पत्तिको धारण न करके आसुरी-सम्पत्तिको बनाये रखते हैं, वे मनुष्य कहलानेलायक नहीं हैं। वे पशुओंसे और नारकीय प्राणियोंसे भी गये-बीते हैं; क्योंकि पशु और नारकीय प्राणी तो पापोंका फल भोगकर पवित्रताकी तरफ जा रहे हैं और ये आसुर स्वभाववाले मनुष्य जिस पुण्यसे मनुष्यशरीर मिला है, उसको नष्ट करके और यहाँ नये-नये पाप बटोरकर पशु-पक्षी आदि योनियों तथा नरकोंकी तरफ जा रहे हैं। अतः उनकी दुर्गतिका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें किया गया है।

भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके जितने लक्षण बताये हैं, उनमें उनको पशु आदिका विशेषण न देकर **'अशुभान्'**, **'नराधमान्'** विशेषण दिये हैं। कारण यह कि पशु आदि इतने पापी नहीं हैं और उनके दर्शनसे पाप भी नहीं लगता, पर आसुर मनुष्योंमें विशेष पाप होते हैं और उनके दर्शनसे पाप लगता है, अपवित्रता आती है। इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें **'नरः'** पद देकर यह बताते हैं कि जो काम-क्रोध-लोभरूप नरकके द्वारोंसे छूटकर अपने कल्याणका आचरण करता है, वही मनुष्य कहलानेलायक है। पाँचवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी **'नरः'** पदसे इसी बातको पुष्ट किया गया है।

'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते'—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे उन आसुर स्वभाववालोंमें शुद्धि-अशुद्धिका खयाल नहीं रहता। उनको सांसारिक बर्तावका, व्यवहारका भी खयाल नहीं होता अर्थात् माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ोंके साथ तथा अन्य मनुष्योंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये—इस बातको वे जानते ही नहीं। उनमें सत्य नहीं होता अर्थात् वे असत्य बोलते हैं और आचरण भी असत्य ही करते हैं। इन सबका तात्पर्य यह है कि वे पुरुष असुर हैं। खाना-पीना, आरामसे रहना तथा 'मैं जीता रहूँ,

संसारका सुख भोगता रहूँ और संग्रह करता रहूँ' आदि उद्देश्य होनेसे उनकी शौचाचार और सदाचारकी तरफ दृष्टि ही नहीं जाती।

भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें बताया है कि वैदिक प्रक्रियाके अनुसार सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए पुरुषोंमें भी परमात्माकी प्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता। भाव यह है कि आसुरी-सम्पदाका अंश रहनेके कारण जब ऐसे शास्त्र-विधिसे यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए पुरुष भी परमात्माका एक निश्चय नहीं कर पाते, तब जिन पुरुषोंमें आसुरी-सम्पदा विशेष बढ़ी हुई है अर्थात् जो अन्यायपूर्वक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्माका एक निश्चय होना कितना कठिन है[1]!

परिशिष्ट भाव—ज्यों-ज्यों आसुरी-सम्पत्ति आती है, त्यों-त्यों विवेक लुप्त होता जाता है। भोगोंके परायण होनेसे आसुर मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको नहीं जान सकते। उनकी निष्ठा तो लौकिक भी नहीं होती, अलौकिक तो दूर रही! उनकी निष्ठा नरकोंमें ले जानेवाली होती है।

आसुर मनुष्य पिण्डप्राणपोषणपरायण होते हैं। इसलिये वे केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दुःख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसको समझ सकते ही नहीं—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**' (गीता १५। ११)।

सम्बन्ध—जहाँ सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ सद्भावोंका भी निरादर होता है अर्थात् सद्भाव दबते चले जाते हैं—अब इसको बताते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ते	= वे
आहुः	= कहा करते हैं कि
जगत्	= संसार
असत्यम्	= असत्य,
अप्रतिष्ठम्	= बिना मर्यादाके (और)
अनीश्वरम्	= बिना ईश्वरके
अपरस्पर-सम्भूतम्	= अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है।
कामहैतुकम्	= (इसलिये) काम ही इसका कारण है,
अन्यत्	= इसके सिवाय और
किम्	= क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

व्याख्या—'**असत्यम्**'—आसुर स्वभाववाले पुरुष कहा करते हैं कि यह जगत् असत्य है अर्थात् इसमें कोई भी बात सत्य नहीं है। जितने भी यज्ञ, दान, तप, ध्यान, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि शुभकर्म किये जाते हैं, उनको वे सत्य नहीं मानते। उनको तो वे एक बहकावा मानते हैं।

'**अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्**'—संसारमें आस्तिक पुरुषोंकी धर्म, ईश्वर, परलोक[2] (पुनर्जन्म) आदिमें श्रद्धा होती है। परन्तु वे आसुर मनुष्य धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा नहीं रखते; अत: वे ऐसा मानते हैं कि इस संसारमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिकी कोई प्रतिष्ठा—मर्यादा नहीं है। इस जगत्‌को वे बिना मालिकका कहते हैं अर्थात् इस जगत्‌को रचनेवाला, इसका शासन करनेवाला, यहाँपर किये हुए पाप-पुण्योंका फल भुगतानेवाला कोई (ईश्वर)

१-पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥ (मानस ५। ४४। २)

२-मरनेके बाद जो जन्म होता है, वह चाहे मृत्युलोकमें हो, चाहे किसी अन्य लोकमें हो, चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी योनिविशेषमें हो, वह सब 'परलोक' ही है।

नहीं है।*

'अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्'—वे कहते हैं कि स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी कामना हो गयी। अतः उन दोनोंके परस्पर संयोगसे यह संसार पैदा हो गया। इसलिये काम ही इस संसारका हेतु है। इसके लिये ईश्वर, प्रारब्ध आदि किसीकी क्या जरूरत है? ईश्वर आदिको इसमें कारण मानना ढकोसला है, केवल दुनियाको बहकाना है।

सम्बन्ध—जहाँ सद्भाव लुप्त हो जाते हैं, वहाँ सद्विचार काम नहीं करते अर्थात् सद्विचार प्रकट ही नहीं होते—इसको अब आगेके श्लोकमें बताते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

एताम्	= इस (पूर्वोक्त)
दृष्टिम्	= (नास्तिक) दृष्टिका
अवष्टभ्य	= आश्रय लेनेवाले
नष्टात्मानः	= जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते,
अल्पबुद्धयः	= जिनकी बुद्धि तुच्छ है,
उग्रकर्माणः	= जो उग्र कर्म करनेवाले (और)
जगतः	= संसारके
अहिताः	= शत्रु हैं,
क्षयाय, प्रभवन्ति	= उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्‌का नाश करनेके लिये ही होता है।

व्याख्या—**'एतां दृष्टिमवष्टभ्य'**—न कोई कर्तव्य-अकर्तव्य है, न शौचाचार-सदाचार है, न ईश्वर है, न प्रारब्ध है, न पाप-पुण्य है, न परलोक है, न किये हुए कर्मोंका कोई दण्ड-विधान है—ऐसी नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे चलते हैं।

'नष्टात्मानः'—आत्मा कोई चेतन-तत्त्व है, आत्माकी कोई सत्ता है—इस बातको वे मानते ही नहीं। वे तो इस बातको मानते हैं कि जैसे कत्था और चूना मिलनेसे एक लाली पैदा हो जाती है, ऐसी ही भौतिक तत्त्वोंके मिलनेसे एक चेतनता पैदा हो जाती है। वह चेतन कोई अलग चीज है— यह बात नहीं है। उनकी दृष्टिमें जड ही मुख्य होता है। इसलिये वे चेतन-तत्त्वसे बिलकुल ही विमुख रहते हैं। चेतन-तत्त्व-(आत्मा-) से विमुख होनेसे उनका पतन हो चुका होता है।

'अल्पबुद्धयः'—उनमें जो विवेक-विचार होता है, वह अत्यन्त ही अल्प, तुच्छ होता है। उनकी दृष्टि केवल दृश्य पदार्थोंपर अवलम्बित रहती है कि कमाओ, खाओ, पीओ और मौज करो। आगे भविष्यमें क्या होगा? परलोकमें क्या होगा? ये बातें उनकी बुद्धिमें नहीं आतीं।

यहाँ अल्पबुद्धिका यह अर्थ नहीं है कि हरेक काममें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। सत्य-तत्त्व क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? सदाचार-दुराचार क्या हैं? और उनका परिणाम क्या होता है? इस विषयमें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। परन्तु धनादि वस्तुओंके संग्रहमें उनकी बुद्धि बड़ी तेज होती है। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक उन्नतिके विषयमें उनकी बुद्धि तुच्छ होती है और सांसारिक भोगोंमें फँसनेके लिये उनकी बुद्धि बड़ी तेज होती है।

'उग्रकर्माणः'—वे किसीसे डरते ही नहीं। यदि डरेंगे तो चोर, डाकू या राजकीय आदमीसे डरेंगे। ईश्वरसे, परलोकसे, मर्यादासे वे नहीं डरते। ईश्वर और परलोकका भय न होनेसे उनके द्वारा दूसरोंकी हत्या आदि बड़े भयानक कर्म होते हैं।

'अहिताः'—उनका स्वभाव खराब होनेसे वे दूसरोंका अहित (नुकसान) करनेमें ही लगे रहते हैं और दूसरोंका नुकसान करनेमें ही उनको सुख होता है।

*** 'अनीश्वर' पदका तात्पर्य यह है कि आसुरी-सम्पत्तिवाले ईश्वरको नहीं मानते। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इस न्यायके अनुसार यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ता तो है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते। ईश्वरकी सत्ता न माननेसे वे अपार चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं (सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक), पर ईश्वरकी सत्ताको मानकर उसके आश्रित रहनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले मनुष्य निश्चिन्त और निर्भय रहते हैं।**

'जगतः क्षयाय प्रभवन्ति'—उनके पास जो शक्ति है, ऐश्वर्य है, सामर्थ्य है, पद है, अधिकार है, वह सब-का-सब दूसरोंका नाश करनेमें ही लगता है। दूसरोंका नाश ही उनका उद्देश्य होता है। अपना स्वार्थ पूरा सिद्ध हो या थोड़ा सिद्ध हो अथवा बिलकुल सिद्ध न हो, पर वे दूसरोंकी उन्नतिको सह नहीं सकते। दूसरोंका नाश करनेमें ही उनको सुख होता है अर्थात् पराया हक छीनना, किसीको जानसे मार देना— इसीमें उनको प्रसन्नता होती है। सिंह जैसे दूसरे पशुओंको मारकर खा जाता है, दूसरोंके दुःखकी परवाह नहीं करता और राजकीय स्वार्थी अफसर जैसे दस, पचास, सौ रुपयोंके लिये हजारों रुपयोंका सरकारी नुकसान कर देते हैं, ऐसे ही अपना स्वार्थ पूरा करनेके लिये दूसरोंका चाहे कितना ही नुकसान हो जाय, उसकी वे परवाह नहीं करते। वे आसुर स्वभाववाले पशु-पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं और अपने थोड़े-से सुखके लिये दूसरोंको कितना दुःख हुआ—इसको वे सोच ही नहीं सकते।

सम्बन्ध—जहाँ सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारका निरादर हो जाता है, वहाँ मनुष्य कामनाओंका आश्रय लेकर क्या करता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दुष्पूरम्	= कभी पूरी न होनेवाली		और मदमें चूर रहनेवाले (तथा)	**मोहात्**	= मोहके कारण
कामम्	= कामनाओंका			**असद्ग्राहान्**	= दुराग्रहोंको
आश्रित्य	= आश्रय लेकर	**अशुचिव्रताः**	= अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य	**गृहीत्वा**	= धारण करके
दम्भमान-मदान्विताः	= दम्भ, अभिमान			**प्रवर्तन्ते**	= (संसारमें) विचरते रहते हैं।

व्याख्या—**'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'**—वे आसुरी प्रकृतिवाले कभी भी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई मनुष्य भगवान्‌का, कोई कर्तव्यका, कोई धर्मका, कोई स्वर्ग आदिका आश्रय लेता है, ऐसे ही आसुर प्राणी कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि कामनाके बिना आदमी पत्थर-जैसा हो जाता है; कामनाके आश्रयके बिना आदमीकी उन्नति हो ही नहीं सकती; आज जितने आदमी नेता, पण्डित, धनी आदि हो गये हैं, वे सब कामनाके कारण ही हुए हैं। इस प्रकार कामनाके आश्रित रहनेवाले भगवान्‌को, परलोकको, प्रारब्ध आदिको नहीं मानते।

अब उन कामनाओंकी पूर्ति किनके द्वारा करें? उसके साथी (सहायक) कौन हैं? तो बताते हैं—**'दम्भमान-मदान्विताः।'** वे दम्भ, मान और मदसे युक्त रहते हैं अर्थात् वे उनकी कामनापूर्तिके बल हैं। जहाँ जिनके सामने जैसा बननेसे अपना मतलब सिद्ध होता हो अर्थात् धन, मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, वाह-वाह आदि मिलते हों, वहाँ उनके सामने वैसा ही अपनेको दिखाना 'दम्भ' है। अपनेको बड़ा मानना, श्रेष्ठ मानना 'मान' है। हमारे पास इतनी विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि है—इस बातको लेकर नशा-सा आ जाना 'मद' है। वे सदा दम्भ, मान और मदमें सने हुए रहते हैं, तदाकार रहते हैं।

'अशुचिव्रताः'—उनके व्रत-नियम बड़े अपवित्र होते हैं; जैसे—'इतने गाँवमें, इतने गायोंके बाड़ोंमें आग लगा देनी है; इतने आदमियोंको मार देना है' आदि। ये वर्ण, आश्रम, आचार-शुद्धि आदि सब ढकोसलाबाजी है; अतः किसीके भी साथ खाओ-पीओ। हम कथा आदि नहीं सुनेंगे; हम तीर्थ, मन्दिर आदि स्थानोंमें नहीं जायँगे—ऐसे उनके व्रत-नियम होते हैं।

ऐसे नियमोंवाले डाकू भी होते हैं। उनका यह नियम रहता है कि बिना मार-पीट किये ही कोई वस्तु दे दे, तो वे लेंगे नहीं। जबतक चोट नहीं लगायेंगे, घावसे खून नहीं टपकेगा, तबतक हम उसकी वस्तु नहीं लेंगे, आदि।

'मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्'—मूढ़ताके कारण वे अनेक दुराग्रहोंको पकड़े रहते हैं। तामसी बुद्धिको लेकर चलना ही मूढ़ता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। वे शास्त्रोंकी, वेदोंकी, वर्णाश्रमोंकी और

कुल-परम्पराकी मर्यादाको नहीं मानते, प्रत्युत इनके विपरीत चलनेमें, इनको भ्रष्ट करनेमें ही वे अपनी बहादुरी, अपना गौरव समझते हैं। वे अकर्तव्यको ही कर्तव्य और कर्तव्यको ही अकर्तव्य मानते हैं, हितको ही अहित और अहितको ही हित मानते हैं, ठीकको ही बेठीक और बेठीकको ही ठीक मानते हैं। इन असद्विचारोंके कारण उनकी बुद्धि इतनी गिर जाती है कि वे यह कहने लग जाते हैं कि माता-पिताका हमारेपर कोई ऋण नहीं है। उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है? झूठ, कपट, जालसाजी करके भी धन कैसे बचे? आदि उनके दुराग्रह होते हैं।

परिशिष्ट भाव—'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'—तीसरे अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है कि यह काम बहुत खानेवाला है—'**महाशनः**' (३। ३७) और अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला है—'**दुष्पूरेणानलेन च**' (३। ३९)। इसलिये सभी कामनाओंकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। अतः कामनापूर्ति ही जिनका उद्देश्य है, उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कामनापूर्तिमें महान् परतन्त्रता है, पर आसुर मनुष्य इस परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रताका अनुभव करते हैं कि धनादि पदार्थ मिल जायँगे तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। वे शास्त्र, गुरु, ईश्वर, धर्म आदिको मानते ही नहीं, फिर कामके सिवाय और किसका आश्रय लें?

सम्बन्ध—सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारोंके अभावमें उन आसुरी प्रकृतिवालोंके नियम, भाव और आचरण किस उद्देश्यको लेकर और किस प्रकारके होते हैं, अब उनको आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

प्रलयान्ताम्	=(वे) मृत्युपर्यन्त रहनेवाली	**कामोपभोगपरमाः**	= पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले	**एतावत्**	='जो कुछ है, वह इतना ही है'—
अपरिमेयाम्	=अपार			**इति**	=ऐसा
चिन्ताम्	=चिन्ताओंका			**निश्चिताः**	=निश्चय करनेवाले होते हैं।
उपाश्रिताः	=आश्रय लेनेवाले,	**च**	= और		

व्याख्या—'**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः**'—आसुरी-सम्पदावाले मनुष्योंमें ऐसी चिन्ताएँ रहती हैं, जिनका कोई माप-तौल नहीं है। जबतक प्रलय अर्थात् मौत नहीं आती, तबतक उनकी चिन्ताएँ मिटती नहीं। ऐसी प्रलयतक रहनेवाली चिन्ताओंका फल भी प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् बार-बार मरना ही होता है।

चिन्ताके दो विषय होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा सांसारिक। मेरा कल्याण, मेरा उद्धार कैसे हो? परब्रह्म परमात्माका निश्चय कैसे हो? (**'चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय'**) इस प्रकार जिनको पारमार्थिक चिन्ता होती है, वे श्रेष्ठ हैं। परन्तु आसुरी-सम्पदावालोंको ऐसी चिन्ता नहीं होती। वे तो इससे विपरीत सांसारिक चिन्ताओंके आश्रित रहते हैं कि हम कैसे जीयेंगे? अपना जीवन-निर्वाह कैसे करेंगे? हमारे बिना बड़े-बूढ़े किसके आश्रित जीयेंगे? हमारा मान, आदर, प्रतिष्ठा, इज्जत, प्रसिद्धि, नाम आदि कैसे बने रहेंगे? मरनेके बाद हमारे बाल-बच्चोंकी क्या दशा होगी? मर जायँगे तो धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदादका क्या होगा? धनके बिना हमारा काम कैसे चलेगा? धनके बिना मकानकी मरम्मत कैसे होगी? आदि-आदि।

मनुष्य व्यर्थमें ही चिन्ता करता है। निर्वाह तो होता रहेगा। निर्वाहकी चीजें तो बाकी रहेंगी और उनके रहते हुए ही मरेंगे। अपने पास एक लंगोटी रखनेवाले विरक्त-से-विरक्तकी भी फटी लंगोटी और फूटी तूम्बी बाकी बचती है और मरता है पहले। ऐसे ही सभी व्यक्ति वस्तु आदिके रहते हुए ही मरते हैं। यह नियम नहीं है कि धन पासमें होनेसे आदमी मरता न हो। धन पासमें रहते-रहते ही मनुष्य मर जाता है और धन पड़ा रहता है, काममें नहीं आता।

एक बहुत बड़ा धनी आदमी था। उसने तिजोरीकी तरह लोहेका एक मजबूत मकान बना रखा था, जिसमें बहुत रत्न रखे हुए थे। उस मकानका दरवाजा ऐसा बना हुआ था, जो बंद होनेपर चाबीके बिना खुलता नहीं था। एक बार वह

धनी आदमी बाहर चाबी छोड़कर उस मकानके भीतर चला गया और उसने भूलसे दरवाजा बंद कर लिया। अब चाबीके बिना दरवाजा न खुलनेसे अन्न, जल, हवाके अभावमें मरते हुए उसने लिखा कि 'इतनी धन-सम्पत्ति आज मेरे पास रहते हुए भी मैं मर रहा हूँ; क्योंकि मुझे भीतर अन्न-जल नहीं मिल रहा है, हवा नहीं मिल रही है!' ऐसे ही खाद्य पदार्थोंके रहनेसे नहीं मरेगा, यह भी नियम नहीं है। भोगोंके पासमें होते हुए भी ऐसे ही मरेगा। जैसे पेट आदिमें रोग लग जानेपर वैद्य-डॉक्टर उसको (अन्न पासमें रहते हुए भी) अन्न खाने नहीं देते, ऐसे ही मरना हो, तो पदार्थोंके रहते हुए भी मनुष्य मर जाता है।

जो अपने पास एक कौड़ीका भी संग्रह नहीं करते, ऐसे विरक्त संतोंको भी प्रारब्धके अनुसार आवश्यकतासे अधिक चीजें मिल जाती हैं। अत: जीवन-निर्वाह चीजोंके अधीन नहीं है[1]। परन्तु इस तत्त्वको आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य नहीं समझ सकते। वे तो यही समझते हैं कि हम चिन्ता करते हैं, कामना करते हैं, विचार करते हैं, उद्योग करते हैं, तभी चीजें मिलती हैं। यदि ऐसा न करें, तो भूखों मरना पड़े!

'**कामोपभोगपरमाः**'—जो मनुष्य धनादि पदार्थोंका उपभोग करनेके परायण हैं, उनकी तो हरदम यही इच्छा रहती है कि सुख-सामग्रीका खूब संग्रह कर लें और भोग भोग लें। उनको तो भोगोंके लिये धन चाहिये; संसारमें बड़ा बननेके लिये धन चाहिये, सुख-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिके लिये धन चाहिये। तात्पर्य है कि उनके लिये भोगोंसे बढ़कर कुछ नहीं है।

'**एतावदिति निश्चिताः**'—उनका यह निश्चय होता है कि सुख भोगना और संग्रह करना—इसके सिवाय और कुछ नहीं है[2]। इस संसारमें जो कुछ है, यही है। अत: उनकी दृष्टिमें परलोक एक ढकोसला है। उनकी मान्यता रहती है कि मरनेके बाद कहीं आना-जाना नहीं होता। बस, यहाँ शरीरके रहते हुए जितना सुख भोग लें, वही ठीक है; क्योंकि मरनेपर तो शरीर यहीं बिखर जायगा[3]। शरीर स्थिर रहनेवाला है ही नहीं, आदि-आदि भोगोंके निश्चयके सामने वे पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदिको भी नहीं मानते।

परिशिष्ट भाव—भोग और संग्रहमें लगा हुआ मनुष्य अन्धा हो जाता है। वह न तो संसारको जान सकता है और न परमात्माको ही जान सकता है। अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि होनेके कारण उसकी दृष्टि परमात्माकी तरफ जा ही नहीं सकती। वह अस्वाभाविक संसारको ही सच्चा मानता है।

वस्तुएँ विनाशी हैं, आप अविनाशी है, फिर पूर्ति कैसे हो? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी पूर्ति कैसे हो सकती है?

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

आशापाशशतैः	=(वे) आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे	**कामक्रोधपरायणाः**	= काम-क्रोधके परायण होकर	**अन्यायेन**	= अन्यायपूर्वक
बद्धाः	= बँधे हुए मनुष्य	**कामभोगार्थम्**	= पदार्थोंका भोग करनेके लिये	**अर्थसञ्चयान्**	= धन-संचय करनेकी
				ईहन्ते	= चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या—'**आशापाशशतैर्बद्धाः**'—आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे बँधे रहते हैं अर्थात् उनको 'इतना धन हो जायगा, इतना मान हो जायगा, शरीरमें नीरोगता आ जायगी' आदि सैकड़ों आशाओंकी

१-(१) प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर। तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुवीर॥
(२) मुरदेको हरि देत है, कपड़ो लकड़ी आग। जीवित नर चिन्ता करे, उनका बड़ा अभाग॥
(३) धान नहीं धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक। जीमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

२-ऐसे ही स्वर्गको माननेवाले सकाम मनुष्य भी कहते हैं कि स्वर्गसे बढ़कर और कुछ नहीं है—'नान्यदस्तीति वादिनः' (गीता २। ४२)। उनकी यही कामना रहती है कि मरनेके बाद हम स्वर्गमें जायँगे और वहाँके दिव्य भोगोंको भोगेंगे। स्वर्गके भोगोंके सामने यहाँके भोग कुछ भी नहीं हैं—ऐसा वे मानते हैं।

३-यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

फाँसियाँ लगी रहती हैं। आशाकी फाँसीसे बँधे हुए मनुष्योंके पास लाखों-करोड़ों रुपये हो जायँ, तो भी उनका मँगतापन नहीं मिटता! उनकी तो यही आशा रहती है कि सन्तोंसे कुछ मिल जाय, भगवान्‌से कुछ मिल जाय, मनुष्योंसे कुछ मिल जाय। इतना ही नहीं पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, पहाड़-समुद्र आदिसे भी हमें कुछ मिल जाय। इस प्रकार उनमें सदा 'खाऊँ-खाऊँ' बनी रहती है। ऐसे व्यक्तियोंकी सांसारिक आशाएँ कभी पूरी नहीं होतीं (गीता—नवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। यदि पूरी हो भी जायँ, तो भी कुछ फायदा नहीं है; क्योंकि यदि वे जीते रहेंगे, तो आशावाली वस्तु नष्ट हो जायगी और आशावाली वस्तु रहेगी, तो वे मर जायँगे अथवा दोनों ही नष्ट हो जायँगे।

जो आशारूपी फाँसीसे बँधे हुए हैं, वे कभी एक जगह स्थिर नहीं रह सकते और जो इस आशारूपी फाँसीसे छूट गये हैं, वे मौजसे एक जगह रहते हैं—

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृङ्खला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्॥

'कामक्रोधपरायणाः'—उनका परम अयन, स्थान काम और क्रोध ही होते हैं* अर्थात् अपनी कामनापूर्तिके करनेके लिये और क्रोधपूर्वक दूसरोंको कष्ट देनेके लिये ही उनका जीवन होता है। काम-क्रोधके परायण मनुष्योंका यह निश्चय रहता है कि कामनाके बिना मनुष्य जड हो जाता है। क्रोधके बिना उसका तेज भी नहीं रहता। कामनासे ही सब काम होता है, नहीं तो आदमी काम करे ही क्यों? कामनाके बिना तो आदमीका जीवन ही भार हो जायगा। संसारमें काम और क्रोध ही तो सार चीज है। इसके बिना लोग हमें संसारमें रहने ही नहीं देंगे। क्रोधसे ही शासन चलता है, नहीं तो शासनको मानेगा ही कौन? क्रोधसे दबाकर दूसरोंको ठीक करना चाहिये, नहीं तो लोग हमारा सर्वस्व छीन लेंगे। फिर तो हमारा अपना कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा, आदि।

'ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्'—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका उद्‌देश्य धनका संग्रह करना और विषयोंका भोग करना होता है। इस उद्‌देश्यकी पूर्तिके लिये वे बेईमानी, धोखेबाजी, विश्वासघात, टैक्सकी चोरी आदि करके; दूसरोंका हक मारकर; मन्दिर, बालक, विधवा आदिका धन दबाकर और इस तरह अनेक अन्यान्य पाप करके धनका संचय करना चाहते हैं। कारण कि उनके मनमें यह बात गहराईसे बैठी रहती है कि आजकलके जमानेमें ईमानदारीसे, न्यायसे कोई धनी थोड़े ही हो सकता है? ये जितने धनी हुए हैं, सब अन्याय, चोरी, धोखेबाजी करके ही हुए हैं। ईमानदारीसे, न्यायसे काम करनेकी जो बात है, वह तो कहनेमात्रकी है; काममें नहीं आ सकती। यदि हम न्यायके अनुसार काम करेंगे, तो हमें दुःख पाना पड़ेगा और जीवन-धारण करना मुश्किल हो जायगा। ऐसा उन आसुर स्वभाववाले व्यक्तियोंका निश्चय होता है।

जो व्यक्ति न्यायपूर्वक स्वर्गके भोगोंकी प्राप्तिके लिये लगे हुए हैं, उनके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि उन लोगोंकी बुद्धिमें 'हमें परमात्माकी प्राप्ति करना है' यह निश्चय हो ही नहीं सकता (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। फिर जो अन्यायपूर्वक धन कमाकर प्राणोंके पोषणमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्मप्राप्तिका निश्चय कैसे हो सकता है? परन्तु वे भी यदि चाहें तो परमात्मप्राप्तिका निश्चय करके साधनपरायण हो सकते हैं। ऐसा निश्चय करनेके लिये किसीको भी मना नहीं है; क्योंकि मनुष्य-जन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

परिशिष्ट भाव—'आशापाशशतैर्बद्धाः'—यहाँ **'शतैः'** पद अनन्तका वाचक है। जबतक संसारके साथ सम्बन्ध है, तबतक कामनाओंका अन्त नहीं आता। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें आया है—**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** 'अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।' कारण कि उन्होंने अविनाशीसे विमुख होकर नाशवान्‌को सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया।

'कामक्रोधपरायणाः'—आसुर स्वभाववाले लोग काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उनको और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। यही उनके परम अयन अर्थात् स्थान हैं।

मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है, वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

*** इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें आये 'दम्भ, मान और मद' तो उनके साथी होते हैं और यहाँ आये 'काम और क्रोध' उनके आश्रय होते हैं।**

सम्बन्ध—आसुर स्वभाववाले व्यक्ति लोभ, क्रोध और अभिमानको लेकर किस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं, उसे क्रमशः आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—

इदम्	= इतनी वस्तुएँ तो	**मनोरथम्**	= मनोरथको	**अस्ति**	= है ही,
मया	= हमने	**प्राप्स्ये**	= प्राप्त (पूरा) कर लेंगे।	**इदम्**	= इतना (धन)
अद्य	= आज	**इदम्**	= इतना	**पुनः**	= फिर
लब्धम्	= प्राप्त कर लीं (और अब)	**धनम्**	= धन तो	**अपि**	= भी
इमम्	= इस	**मे**	= हमारे पास	**भविष्यति**	= हो जायगा।

व्याख्या—'**इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्**'—आसुरी प्रकृतिवाले व्यक्ति लोभके परायण होकर मनोरथ करते रहते हैं कि हमने अपने उद्योगसे, बुद्धिमानीसे, चतुराईसे, होशियारीसे, चालाकीसे इतनी वस्तुएँ तो आज प्राप्त कर लीं, इतनी और प्राप्त कर लेंगे। इतनी वस्तुएँ तो हमारे पास हैं, इतनी और वहाँसे आ जायँगी। इतना धन व्यापारसे आ जायगा। हमारा बड़ा लड़का इतना पढ़ा हुआ है; अतः इतना धन और वस्तुएँ तो उसके विवाहमें आ ही जायँगी। इतना धन टैक्सकी चोरीसे बच जायगा, इतना जमीनसे आ जायगा, इतना मकानोंके किरायेसे आ जायगा, इतना ब्याजका आ जायगा, आदि-आदि।

'**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्**'— जैसे-जैसे उनका लोभ बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उनके मनोरथ भी बढ़ते जाते हैं। जब उनका चिन्तन बढ़ जाता है, तब वे चलते-फिरते हुए, काम-धंधा करते हुए, भोजन करते हुए, मल-मूत्रका त्याग करते हुए और यदि नित्यकर्म (पाठ-पूजा-जप आदि) करते हैं तो उसे करते हुए भी 'धन कैसे बढ़े' इसका चिन्तन करते रहते हैं। इतनी दूकानें, मिल, कारखाने तो हमने खोल दिये हैं, इतने और खुल जायँ। इतनी गायें-भैंसे, भेड़-बकरियाँ आदि तो हैं ही, इतनी और हो जायँ। इतनी जमीन तो हमारे पास है, पर यह बहुत थोड़ी है, किसी तरहसे और मिल जाय तो बहुत अच्छा हो जायगा। इस प्रकार धन आदि बढ़ानेके विषयमें उनके मनोरथ होते हैं।

जब उनकी दृष्टि अपने शरीर तथा परिवारपर जाती है, तब वे उस विषयमें मनोरथ करने लग जाते हैं कि अमुक-अमुक दवाएँ सेवन करनेसे शरीर ठीक रहेगा। अमुक-अमुक चीजें इकट्ठी कर ली जायँ, तो हम सुख और आरामसे रहेंगे। एयरकण्डीशनवाली गाड़ी मँगवा लें, जिससे बाहरकी गरमी न लगे। ऊनके ऐसे वस्त्र मँगवा लें, जिससे सरदी न लगे। ऐसा बरसाती कोट या छाता मँगवा लें, जिससे वर्षासे शरीर गीला न हो। ऐसे-ऐसे गहने-कपड़े और शृंगार आदिकी सामग्री मँगवा लें, जिससे हम खूब सुन्दर दिखायी दें, आदि-आदि।

ऐसे मनोरथ करते-करते उनको यह याद नहीं रहता कि हम बूढ़े हो जायँगे तो इस सामग्रीका क्या करेंगे और मरते समय यह सामग्री हमारे क्या काम आयेगी? अन्तमें इस सम्पत्तिका मालिक कौन होगा? बेटा तो कपूत है; अतः वह सब नष्ट कर देगा। मरते समय यह धन-सम्पत्ति खुदको दुःख देगी। इस सामग्रीके लोभके कारण ही मुझे बेटा-बेटीसे डरना पड़ता है और नौकरोंसे डरना पड़ता है कि कहीं ये लोग हड़ताल न कर दें।

प्रश्न—दैवी-सम्पत्तिको धारण करके साधन करनेवाले साधकके मनमें भी कभी-कभी व्यापार आदिके कार्यको लेकर (इस श्लोककी तरह) 'इतना काम हो गया, इतना काम करना बाकी है और इतना काम आगे हो जायगा; इतना पैसा आ गया है और इतना वहाँपर टैक्स देना है' आदि स्फुरणाएँ होती हैं। ऐसी ही स्फुरणाएँ जडताका उद्‌देश्य रखनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवालोंके मनमें भी होती हैं, तो इन दोनोंकी वृत्तियोंमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तर—दोनोंकी वृत्तियाँ एक-सी दीखनेपर भी उनमें बड़ा अन्तर है। साधकका उद्‌देश्य परमात्मप्राप्तिका होता है; अतः वह उन वृत्तियोंमें तल्लीन नहीं होता। परन्तु आसुरी

प्रकृतिवालोंका उद्‌देश्य धन इकट्ठा करने और भोग भोगनेका रहता है; अतः वे उन वृत्तियोंमें ही तल्लीन होते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनोंके उद्‌देश्य भिन्न-भिन्न होनेसे दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् ग्यारहवें श्लोकमें कहे '**कामोपभोगपरमाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

असौ	= वह	**अपि**	= भी (हम)	**भोगी**	= भोग भोगनेवाले हैं।
शत्रुः	= शत्रु तो	**हनिष्ये**	= मार डालेंगे।	**अहम्**	= हम
मया	= हमारे द्वारा	**अहम्**	= हम	**सिद्धः**	= सिद्ध हैं।
हतः	= मारा गया	**ईश्वरः**	= ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं।	**बलवान्**	= (हम) बड़े बलवान् (और)
च	= और				
अपरान्	= (उन) दूसरे शत्रुओंको	**अहम्**	= हम	**सुखी**	= सुखी हैं।

व्याख्या—आसुरी-सम्पदावाले व्यक्ति क्रोधके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं—'**असौ मया हतः शत्रुः**'—वह हमारे विपरीत चलता था, हमारे साथ वैर रखता था, उसको तो हमने मार दिया है और '**हनिष्ये चापरानपि**'—दूसरे जो भी हमारे विपरीत चलते हैं, हमारे साथ वैर रखते हैं, हमारा अनिष्ट सोचते हैं, उनको भी हम मजा चखा देंगे, मार डालेंगे। '**ईश्वरोऽहम्**'—हम धन, बल, बुद्धि आदिमें सब तरहसे समर्थ हैं। हमारे पास क्या नहीं है? हमारी बराबरी कोई कर सकता है क्या? '**अहं भोगी**'—हम भोग भोगनेवाले हैं। हमारे पास स्त्री, मकान, कार आदि कितनी भोग सामग्री है! '**सिद्धोऽहम्**'—हम सब तरहसे सिद्ध हैं। हमने तो पहले ही कह दिया था न? वैसा हो गया कि नहीं? हमारेको तो पहलेसे ही ऐसा दीखता है; ये जो लोग भजन, स्मरण, जप, ध्यान आदि करते हैं, ये सभी किसीके बहकावेमें आये हुए हैं। अतः इनकी क्या दशा होगी, उसको हम जानते हैं। हमारे समान सिद्ध और कोई है संसारमें? हमारे पास अणिमा, गरिमा आदि सभी सिद्धियाँ हैं। हम एक फूँकमें सबको भस्म कर सकते हैं। '**बलवान्**'—हम बड़े बलवान् हैं। अमुक आदमीने हमारेसे टक्कर लेनी चाही, तो उसका क्या नतीजा हुआ? आदि। परन्तु जहाँ स्वयं हार जाते हैं, वह बात दूसरोंको नहीं कहते, जिससे कि कोई हमें कमजोर न समझ ले। उन्हें अपने हारनेकी बात तो याद भी नहीं रहती, पर अभिमानकी बात उन्हें याद रहती है। '**सुखी**'—हमारे पास कितना सुख है, आराम है। हमारे समान सुखी संसारमें कौन है?

ऐसे व्यक्तियोंके भीतर तो जलन होती रहती है, पर ऊपरसे इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् बारहवें श्लोकमें कहे '**कामक्रोधपरायणाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंमें 'हम सुखी हैं'—यह केवल अभिमान होता है। वास्तवमें वे सुखी नहीं होते। सुखी वास्तवमें वही है, जिसपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता (गीता—पाँचवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके पास काम और क्रोधका ही बल होता है। वे नाशवान्‌के सम्बन्धसे अपनेको बलवान् मानते हैं। हिरण्यकशिपु आदिकी तरह वे अपनेको ही सर्वोपरि मानते हैं; क्योंकि दूसरे लोग उनको निकृष्ट दीखते हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

आढ्यः	= हम धनवान् हैं,
अभिजनवान्,	
अस्मि	= बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं,
मया	= हमारे
सदृशः	= समान
अन्यः	= दूसरा
कः	= कौन
अस्ति	= है?
यक्ष्ये	= (हम) खूब यज्ञ करेंगे,
दास्यामि	= दान देंगे (और)
मोदिष्ये	= मौज करेंगे—
इति	= इस तरह (वे)
अज्ञानविमोहिताः	= अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

व्याख्या—आसुर स्वभाववाले व्यक्ति अभिमानके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं—

'आढ्योऽभिजनवानस्मि'—कितना धन हमारे पास है! कितना सोना-चाँदी, मकान, खेत, जमीन हमारे पास है! कितने अच्छे आदमी, ऊँचे पदाधिकारी हमारे पक्षमें हैं! हम धन और जनके बलपर, रिश्वत और सिफारिशके बलपर जो चाहें, वही कर सकते हैं।

'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'—आप इतने घूमे-फिरे हो, आपको कई आदमी मिले होंगे; पर आप बताओ, हमारे समान आपने कोई देखा है क्या? **'यक्ष्ये दास्यामि'**— हम ऐसा यज्ञ करेंगे, ऐसा दान करेंगे कि सबपर टाँग फेर देंगे! थोड़ा-सा यज्ञ करनेसे, थोड़ा-सा दान देनेसे, थोड़े-से ब्राह्मणोंको भोजन कराने आदिसे क्या होता है? हम तो ऐसे यज्ञ, दान आदि करेंगे, जैसे आजतक किसीने न किये हों। क्योंकि मामूली यज्ञ, दान करनेसे लोगोंको क्या पता लगेगा कि इन्होंने यज्ञ किया, दान दिया। बड़े यज्ञ, दानसे हमारा नाम अखबारोंमें निकलेगा। किसी धर्मशालामें मकान बनवायेंगे, तो उसमें हमारा नाम खुदवाया जायगा, जिससे हमारी यादगारी रहेगी। **'मोदिष्ये'**—हम कितने बड़े आदमी हैं! हमें सब तरहसे सब सामग्री सुलभ है! अतः हम आनन्दसे मौज करेंगे।

इस प्रकार अभिमानको लेकर मनोरथ करनेवाले आसुर लोग केवल 'करेंगे, करेंगे'—ऐसा मनोरथ ही करते रहते हैं, वास्तवमें करते-कराते कुछ नहीं। वे करेंगे भी, तो वह भी नाममात्रके लिये करेंगे (जिसका उल्लेख आगे सत्रहवें श्लोकमें आया है)। कारण कि **'इत्यज्ञानविमोहिताः'**— इस प्रकार तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोकमें वर्णित मनोरथ करनेवाले आसुर लोग अज्ञानसे मोहित रहते हैं अर्थात् मूढ़ताके कारण ही उनकी ऐसे मनोरथवाली वृत्ति होती है।

सम्बन्ध—परमात्मासे विमुख हुए आसुरी सम्पदावालोंको जीते-जी अशान्ति, जलन, संताप आदि तो होते ही हैं, पर मरनेपर उनकी क्या गति होती है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेकचित्त-विभ्रान्ताः	= (कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले,
मोहजाल-समावृताः	= मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए (तथा)
कामभोगेषु	= पदार्थों और भोगोंमें
प्रसक्ताः	= अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य
अशुचौ	= भयंकर
नरके	= नरकोंमें
पतन्ति	= गिरते हैं।

व्याख्या—**'अनेकचित्तविभ्रान्ताः'**—उन आसुर मनुष्योंका एक निश्चय न होनेसे उनके मनमें अनेक तरहकी चाहना होती है और उस एक-एक चाहनाकी पूर्तिके लिये अनेक तरहके उपाय होते हैं तथा उन उपायोंके विषयमें उनका अनेक तरहका चिन्तन होता है। उनका चित्त किसी एक बातपर स्थिर नहीं रहता, अनेक तरहसे भटकता ही रहता है।

'मोहजालसमावृताः'—जडका उद्देश्य होनेसे वे मोहजालसे ढके रहते हैं। मोहजालका तात्पर्य है कि तेरहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक काम, क्रोध और अभिमानको

लेकर जितने मनोरथ बताये गये हैं, उन सबसे वे अच्छी तरहसे आवृत रहते हैं; अतः उनसे वे कभी छूटते नहीं। जैसे मछली जालमें फँस जाती है, ऐसे ही वे प्राणी मनोरथरूप मोहजालमें फँसे रहते हैं। उनके मनोरथोंमें भी केवल एक तरफ ही वृत्ति नहीं होती, प्रत्युत दूसरी तरफ भी वृत्ति रहती है; जैसे—इतना धन तो मिल जायगा, पर उसमें अमुक-अमुक बाधा लग जायगी तो? हमारे पास दो नम्बरकी इतनी पूँजी है, इसका पता राजकीय अधिकारियोंको लग जायगा तो? हमारे मुनीम, नौकर आदि हमारी शिकायत कर देंगे तो? हम अमुक व्यक्तिको मार देंगे, पर हमारी न चली और दशा विपरीत हो गयी तो? हम अमुकका नुकसान करेंगे, पर उससे हमारा नुकसान हो गया तो?—इस प्रकार मोहजालमें फँसे हुए आसुरी सम्पदावालोंमें काम, क्रोध और अभिमानके साथ-साथ भय भी बना रहता है। इसलिये वे निश्चय नहीं कर पाते। कहींपर जाते हैं ठीक करनेके लिये, पर हो जाता है बेठीक! मनोरथ सिद्ध न होनेसे उनको जो दुःख होता है, उसको तो वे ही जानते हैं!

'प्रसक्ताः कामभोगेषु'—वस्तु आदिका संग्रह करने और उसका उपभोग करनेमें तथा मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें वे अत्यन्त आसक्त रहते हैं।

'पतन्ति नरकेऽशुचौ'—मोहजाल उनके लिये जीते-जी ही नरक है और मरनेके बाद उन्हें कुम्भीपाक, महारौरव आदि स्थान-विशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है। उन नरकोंमें भी वे घोर यातनावाले नरकोंमें गिरते हैं। **'नरके अशुचौ'** कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन नरकोंमें महान् असह्य यातना और भयंकर दुःख दिया जाता है, ऐसे घोर नरकोंमें वे गिरते हैं;* क्योंकि जिनकी जैसी स्थिति होती है, मरनेके बाद भी उनकी वैसी (स्थितिके अनुसार) ही गति होती है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें आसुर मनुष्य काम-क्रोधपरायण होनेके कारण पहलेसे ही नरकमें पड़े हैं और अभावरूपी अग्निमें जल रहे हैं। परिणाममें उनको भयंकर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

ऊँचे लोकोंमें अथवा नरकोंमें जानेमें पदार्थ और क्रिया मुख्य कारण नहीं हैं, प्रत्युत भाव मुख्य कारण है। भावका विशेष मूल्य है। जैसा भाव होता है, वैसी क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि)-का वर्णन किया है।

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदावालोंके दुराचारोंका फल नरक-प्राप्ति बताकर, दुराचारोंद्वारा बोये गये दुर्भावोंसे वर्तमानमें उनकी कितनी भयंकर दुर्दशा होती है और भविष्यमें उसका क्या परिणाम होता है—इसे बतानेके लिये आगेका (चार श्लोकोंका) प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्मसम्भाविताः	= अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले,	**धनमानमदान्विताः**	= धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले	**अविधिपूर्वकम्**	= अविधिपूर्वक
				नामयज्ञैः	= नाममात्रके यज्ञोंसे
स्तब्धाः	= अकड़ रखनेवाले (तथा)	**ते**	= वे मनुष्य	**यजन्ते**	= यजन करते हैं।
		दम्भेन	= दम्भसे		

व्याख्या—**'आत्मसम्भाविताः'**—वे धन, मान, बड़ाई, आदर आदिकी दृष्टिसे अपने मनसे ही अपने-आपको बड़ा मानते हैं, पूज्य समझते हैं कि हमारे समान कोई नहीं है; अतः हमारा पूजन होना चाहिये, हमारा आदर होना चाहिये,

*** नरकोंमें जानेवाले प्राणीको 'यातनाशरीर' की प्राप्ति होती है। उस यातनाशरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, तेलमें डालकर उबाला जाय, आगमें फेंककर जलाया जाय, तो भी वह मरता नहीं। प्राणी जबतक अपने पापकर्मोंका फल (दण्ड) न भोग ले, तबतक भयंकर यातना देनेपर भी वह शरीर मरता नहीं।**

हमारी प्रशंसा होनी चाहिये। वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, पद, अधिकार, योग्यता आदिमें हम सब तरहसे श्रेष्ठ हैं; अत: सब लोगोंको हमारे अनुकूल चलना चाहिये।

'**स्तब्धा:**'—वे किसीके सामने नम्र नहीं होते, नमते नहीं। कोई सन्त-महात्मा या अवतारी भगवान् ही सामने क्यों न आ जायँ, तो भी वे उनको नमस्कार नहीं करेंगे। वे तो अपने-आपको ही ऊँचा समझते हैं, फिर किसके सामने नम्रता करें और किसको नमस्कार करें! कहीं किसी कारणसे परवश होकर लोगोंके सामने झुकना भी पड़े, तो अभिमानसहित ही झुकेंगे। इस प्रकार उनमें बहुत ज्यादा ऐंठ-अकड़ रहती है।

'**धनमानमदान्विता:**'—वे धन और मानके मदसे सदा चूर रहते हैं। उनमें धनका, अपने जनोंका, जमीन-जायदाद और मकान आदिका मद (नशा) होता है। इधर-उधर पहचान हो जाती है, तो उसका भी उनके मनमें मद होता है कि हमारी तो बड़े-बड़े मिनिस्टरोंतक पहचान है। हमारे पास ऐसी शक्ति है, जिससे चाहे जो प्राप्त कर सकते हैं और चाहे जिसका नाश कर सकते हैं। इस प्रकार धन और मान ही उनका सहारा होता है। इनका ही उन्हें नशा होता है, गरमी होती है। अत: वे इनको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

'**यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेन**'—वे लोग (पन्द्रहवें श्लोकमें आये '**यक्ष्ये दास्यामि**' पदोंके अनुसार) दम्भपूर्वक नाममात्रके यज्ञ करते हैं। वे केवल लोगोंको दिखानेके लिये और अपनी महिमाके लिये ही यज्ञ करते हैं तथा इस भावसे करते हैं कि दूसरोंपर असर पड़ जाय और वे हमारे प्रभावसे प्रभावित हो जायँ; उनकी आँख खुल जाय कि हम क्या हैं, उन्हें चेत हो जाय आदि।

लोगोंमें हमारा नाम हो जाय, प्रसिद्धि हो जाय, आदर हो जाय—इसके लिये वे यज्ञके नामपर अपने नामका खूब प्रचार करेंगे, अपने नामका छापा (पैम्फलेट) छपवायेंगे। ब्राह्मणोंके लिये भोजन करेंगे, तो खीरमें कपूर डाल देंगे, जिससे वे अधिक न खा सकें; क्योंकि उससे खर्चा भी अधिक नहीं होगा और नाम भी हो जायगा। ऐसे ही पंक्तिमें भोजनके लिये दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच सकोरे और पत्तलें एक साथ परोस देंगे, जिससे उन सकोरे और पत्तलोंको बाहर फेंकनेपर उनका ढेर लग जाय और लोगोंको यह पता चल जाय कि ये कितने अच्छे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इतने ब्राह्मणोंको भोजन कराया है। इस प्रकार ये आसुरी-सम्पदावालोंके भीतरके भाव होते हैं और भावोंके अनुसार ही उनके आचरण होते हैं।

आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्ति शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, पूजन आदि कर्म तो करते हैं और उनके लिये पैसे भी खर्च करते हैं, पर करते हैं शास्त्रविधिकी परवाह न करके और दम्भपूर्वक ही।

मन्दिरोंमें जब कोई मेला-महोत्सव हो और ज्यादा लोगोंके आनेकी उम्मीद हो तथा बड़े-बड़े धनी लोग आनेवाले हों, तब मन्दिरको अच्छी तरह सजायेंगे, ठाकुरजीको खूब बढ़िया-बढ़िया गहने-कपड़े पहनायेंगे, जिससे ज्यादा लोग आ जायँ और खूब भेंट-चढ़ावा इकट्ठा हो जाय। इस प्रकार ठाकुरजीका तो नाममात्रका पूजन होता है, पर वास्तवमें पूजन होता है लोगोंका। ऐसे ही कोई मिनिस्टर या अफसर आनेवाला हो, तो उनको राजी करनेके लिये ठाकुरजीको खूब सजायेंगे और जब वे मन्दिरमें आयेंगे, तब उनका खूब आदर-सत्कार करेंगे, उनको ठाकुरजीकी माला देंगे, प्रसाद (जो उनके लिये विशेषरूपसे तैयार रखा रहता है) देंगे, इसलिये कि वे राजी हो जायँगे, तो हमारे व्यापारमें, घरेलू कामोंमें हमारी सहायता करेंगे, मुकदमे आदिमें हमारा पक्ष लेंगे, आदि। इन भावोंसे वे ठाकुरजीका जो पूजन करते हैं, वह तो नाममात्रका पूजन है। वास्तवमें पूजन होता है—अपने व्यापारका, घरेलू कामोंका, लड़ाई-झगड़ोंका; क्योंकि उनका उद्देश्य ही वही है।

गौ-सेवी-संस्था-संचालक भी गोशालाओंमें प्राय: दूध देनेवाली स्वस्थ गायोंको ही रखेंगे और उनको अधिक चारा देंगे; पर लूली-लँगड़ी, अपाहिज, अन्धी और दूध न देनेवाली गायोंको नहीं रखेंगे तथा किसीको रखेंगे भी तो उसको दूध देनेवाली गायोंकी अपेक्षा बहुत कम चारा देंगे। परन्तु हमारी गोशालामें कितना गोपालन हो रहा है, इसकी असलियतकी तरफ खयाल न करके केवल लोगोंको दिखानेके लिये उसका झूठा प्रचार करेंगे। छापा, लेख, विज्ञापन, पुस्तिका आदि छपवाकर बाँटेंगे, जिससे पैसा तो अधिक-से-अधिक आये, पर खर्चा कम-से-कम हो।

धार्मिक संस्थाओंमें भी जो संचालक कहलाते हैं, वे प्राय: उन धार्मिक संस्थाओंके पैसोंसे अपने घरका काम चलायेंगे। अपनेको नफा किस प्रकार हो, हमारी दूकान किस तरह चले, पैसे कैसे मिलें—इस प्रकार अपने स्वार्थको लेकर केवल दिखावटीपनसे सारा काम करेंगे।

प्राय: साधन-भजन करनेवाले भी दूसरेको आता देखकर

आसन लगाकर बैठ जायँगे, भजन-ध्यान करने लग जायँगे, माला घुमाने लग जायँगे। परन्तु कोई देखनेवाला न हो तो बातचीतमें लग जायँगे, ताश-चौपड़ खेलेंगे अथवा सो जायँगे। ऐसा जो साधन-भजन होता है, वह केवल इसलिये कि दूसरे मुझे अच्छा मानें, भक्त मानें और मेरी प्रशंसा करें, मेरा आदर-सम्मान करें, मुझे पैसे मिलें, लोगोंमें मेरा नाम हो जाय, आदि। इस प्रकार यह साधन-भजन भगवान्‌का तो नाममात्रके लिये होता है, पर वास्तवमें साधन-भजन होता है अपने नामका, अपने शरीरका, पैसोंका। इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवालोंके विषयमें कहाँतक कहा जाय?

'अविधिपूर्वकम्'—वे आसुर मनुष्य शास्त्रविधिको तो मानते ही नहीं, सदा शास्त्रनिषिद्ध काम करते हैं। वे यज्ञ, दान आदि तो करेंगे, पर उनको विधिपूर्वक नहीं करेंगे। दान करेंगे तो सुपात्रको न देकर कुपात्रको देंगे। कुपात्रोंके साथ ही एकता रखेंगे। इस प्रकार उलटे-उलटे काम करेंगे। बुद्धि सर्वथा विपरीत होनेके कारण उनको उलटी बात भी सुलटी ही दीखती है—**'सर्वार्थान् विपरीतांश्च'** (गीता १८। ३२)।

परिशिष्ट भाव—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हमारेमें कोई कमी न रह जाय, कोई हमारेको यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे केवल लोगोंमें अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्मका अमुक फल होगा।

आसुर मनुष्योंकी सब चेष्टाएँ दिखावटी होती हैं। परन्तु उनके भीतरमें अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारीका भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्	= (वे) अहंकार,	**संश्रिताः**	= आश्रय लेनेवाले मनुष्य	**माम्**	= मुझ अन्तर्यामीके साथ
बलम्	= हठ,				
दर्पम्	= घमण्ड,	**आत्म-**		**प्रद्विषन्तः**	= द्वेष करते हैं (तथा)
कामम्	= कामना	**परदेहेषु**	= अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले)	**अभ्यसूयकाः**	= (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।
च	= और				
क्रोधम्	= क्रोधका				

व्याख्या—**'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः'**—वे आसुर मनुष्य जो कुछ काम करेंगे, उसको अहंकार, हठ, घमण्ड, काम और क्रोधसे ही करेंगे। जैसे भक्त भगवान्‌के आश्रित रहता है, ऐसे ही वे आसुर लोग अहंकार, हठ, काम आदिके आश्रित रहते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधके बिना काम नहीं चलेगा; संसारमें ऐसा होनेसे ही काम चलता है, नहीं तो मनुष्योंको दुःख ही पाना पड़ता है; जो इनका (अहंकार, हठ आदिका) आश्रय नहीं लेते, वे बुरी तरहसे कुचले जाते हैं; सीधे-सादे व्यक्तिको संसारमें कौन मानेगा? इसलिये अहंकारादिके रहनेसे ही अपना मान होगा, सत्कार होगा और लोगोंमें नाम होगा, जिससे लोगोंपर हमारा दबाव, आधिपत्य रहेगा।

'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तः'— भगवान् कहते हैं कि मैं जो उनके शरीरमें और दूसरोंके शरीरमें रहता हूँ, उस मेरे साथ वे आसुर मनुष्य वैर रखते हैं। भगवान्‌के साथ वैर रखना क्या है?—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्तते।
आज्ञाभंगी मम द्वेषी नरके पतति ध्रुवम्॥

'श्रुति और स्मृति—ये दोनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इनका उल्लंघन करके जो मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है, वह मेरी

आज्ञा-भंग करके मेरे साथ द्वेष रखनेवाला मनुष्य निश्चित ही नरकोंमें गिरता है।'

वे अपने अन्त:करणमें विराजमान परमात्माके साथ भी विरोध करते हैं अर्थात् हृदयमें जो अच्छी स्फुरणाएँ होती हैं, सिद्धान्तकी अच्छी बातें आती हैं, उनकी वे उपेक्षा-तिरस्कार करते हैं, उनको मानते नहीं। वे दूसरे लोगोंकी अवज्ञा करते हैं, उनका तिरस्कार करते हैं, अपमान करते हैं, उनको दु:ख देते हैं, उनसे अच्छी तरहसे द्वेष रखते हैं। यह सब उन प्राणियोंके रूपमें भगवान्‌के साथ द्वेष करना है।

'**अभ्यसूयका:**'—वे मेरे और दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि रखते हैं। मेरे विषयमें वे कहते हैं कि भगवान् बड़े पक्षपाती हैं; वे भक्तोंकी तो रक्षा करते हैं और दूसरोंका विनाश करते हैं, यह बात बढ़िया नहीं है। आजतक जितने संत-महात्मा हुए हैं और अभी भी जो संत-महात्मा तथा अच्छी स्थितिवाले साधक हैं, उनके विषयमें वे आसुर लोग कहते हैं कि उनमें भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ, दिखावटीपन आदि दोष पाये जाते हैं; किसी भी संत-महात्माका चरित्र ऐसा नहीं है, जिसमें ये दोष न आये हों; अत: यह सब पाखण्ड है; हमने भी इन सब बातोंको करके देखा है; हमने भी संयम किया है, भजन किया है, व्रत किये हैं, तीर्थ किये हैं, पर वास्तवमें इनमें कोई दम नहीं है; हमें तो कुछ नहीं मिला, मुफ्तमें ही दु:ख पाया; उनके करनेमें वह समय हमारा व्यर्थमें ही बरबाद हुआ है; वे लोग भी किसीके बहकावेमें आकर अपना समय बरबाद कर रहे हैं; अभी ये ऐसे प्रवाहमें बहे हुए हैं और उलटे रास्तेपर जा रहे हैं; अभी इनको होश नहीं है, पर जब कभी चेतेंगे, तब उनको भी पता लगेगा; आदि-आदि।

परिशिष्ट भाव—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर पक्के रहते हैं और अपनी बातको ही सच्चा मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दु:खी होता है, वही दूसरोंको दु:ख देता है। आसुर मनुष्य खुद दु:खी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दु:ख देते हैं। उनको कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हमारेमें ही है। उनको संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।

तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्	= उन	**नराधमान्**	= महान् नीच,	**आसुरीषु**	= आसुरी
द्विषत:	= द्वेष करनेवाले,	**अशुभान्**	= अपवित्र मनुष्योंको	**योनिषु**	= योनियोंमें
क्रूरान्	= क्रूर स्वभाववाले (और)	**अहम्**	= मैं	**एव**	= ही
संसारेषु	= संसारमें	**अजस्रम्**	= बार-बार	**क्षिपामि**	= गिराता रहता हूँ।

व्याख्या—'**तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्**'—सातवें अध्यायके पंद्रहवें और नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें वर्णित आसुरी-सम्पदाका इस अध्यायके सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे वर्णन किया गया। अब आसुरी-सम्पदाके विषयका इन दो (उन्नीसवें-बीसवें) श्लोकोंमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसे आसुर मनुष्य बिना ही कारण सबसे वैर रखते हैं और सबका अनिष्ट करनेपर ही तुले रहते हैं। उनके कर्म बड़े क्रूर होते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंकी हिंसा आदि हुआ करती है। ऐसे वे क्रूर, निर्दयी, हिंसक मनुष्य नराधम अर्थात् मनुष्योंमें महान् नीच हैं—'**नराधमान्।**' उनको मनुष्योंमें नीच कहनेका मतलब यह है कि नरकोंमें रहनेवाले और पशु-पक्षी आदि (चौरासी लाख योनियाँ) अपने पूर्वकर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं और ये आसुर मनुष्य अन्याय-पाप करके पशु-पक्षी आदिसे भी नीचेकी ओर जा रहे हैं। इसलिये इन लोगोंका संग बहुत बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५। ४६। ४)

नरकोंका वास बहुत अच्छा है, पर विधाता (ब्रह्मा) हमें दुष्टका संग कभी न दे; क्योंकि नरकोंके वाससे तो पाप नष्ट होकर शुद्धि आती है, पर दुष्टोंके संगसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं; पापके ऐसे बीज बोये जाते हैं, जो आगे नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर भी पूरे नष्ट नहीं होते।

प्रकृतिके अंश शरीरमें राग अधिक होनेसे आसुरी-सम्पत्ति अधिक आती है; क्योंकि भगवान्‌ने कामना-(राग-) को सम्पूर्ण पापोंमें हेतु बताया है (तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। उस कामनाके बढ़ जानेसे आसुरी-सम्पत्ति बढ़ती ही चली जाती है। जैसे धनकी अधिक कामना बढ़नेसे झूठ, कपट, छल आदि दोष विशेषतासे बढ़ जाते हैं और वृत्तियोंमें भी अधिक-से-अधिक धन कैसे मिले—ऐसा लोभ बढ़ जाता है। फिर मनुष्य अनुचित रीतिसे, छिपावसे, चोरीसे धन लेनेकी इच्छा करता है। इससे भी अधिक लोभ बढ़ जाता है, तो फिर मनुष्य डकैती करने लग जाता है और थोड़े धनके लिये मनुष्यकी हत्या कर देनेमें भी नहीं हिचकता। इस प्रकार उसमें क्रूरता बढ़ती रहती है और उसका स्वभाव राक्षसों-जैसा बन जाता है। स्वभाव बिगड़नेपर उसका पतन होता चला जाता है और अन्तमें उसे कीट-पतंग आदि आसुरी योनियों और घोर नरकोंकी महान् यातना भोगनी पड़ती है।

'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'—जिनका नाम लेना, दर्शन करना, स्मरण करना आदि भी महान् अपवित्र करनेवाला है—**'अशुभान्'**, ऐसे क्रूर, निर्दयी, सबके वैरी मनुष्योंके स्वभावके अनुसार ही भगवान् उनको आसुरी योनि देते हैं। भगवान् कहते हैं—**'आसुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि'** अर्थात् मैं उनको उनके स्वभावके लायक ही कुत्ता, साँप, बिच्छू, बाघ, सिंह आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। वह भी एक-दो बार नहीं, प्रत्युत बार-बार गिराता हूँ—**'अजस्रम्'**, जिससे वे अपने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध, निर्मल होते रहें।

भगवान्‌का उनको आसुरी योनियोंमें गिरानेका तात्पर्य क्या है?

भगवान्‌का उन क्रूर, निर्दयी मनुष्योंपर भी अपनापन है। भगवान् उनको पराया नहीं समझते, अपना द्वेषी-वैरी नहीं समझते, प्रत्युत अपना ही समझते हैं। जैसे, जो भक्त जिस प्रकार भगवान्‌की शरण लेते हैं, भगवान् भी उनको उसी प्रकार आश्रय देते हैं (गीता—चौथे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। ऐसे ही जो भगवान्‌के साथ द्वेष करते हैं, उनके साथ भगवान् द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनको अपना ही समझते हैं। दूसरे साधारण मनुष्य जिस मनुष्यसे अपनापन करते हैं, उस मनुष्यको ज्यादा सुख-आराम देकर उसको लौकिक सुखमें फँसा देते हैं; परन्तु भगवान् जिनसे अपनापन करते हैं उनको शुद्ध बनानेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं, जिससे वे सदाके लिये सुखी हो जायँ—उनका उद्धार हो जाय।

जैसे, हितैषी अध्यापक विद्यार्थियोंपर शासन करके, उनकी ताड़ना करके पढ़ाते हैं, जिससे वे विद्वान् बन जायँ, उन्नत बन जायँ, सुन्दर बन जायँ, ऐसे ही जो प्राणी परमात्माको जानते नहीं, मानते नहीं और उनका खण्डन करते हैं, उनको भी परम कृपालु भगवान् जानते हैं, अपना मानते हैं और उनको आसुरी योनियोंमें गिराते हैं, जिससे उनके किये हुए पाप दूर हो जायँ और वे शुद्ध, निर्मल बनकर अपना कल्याण कर लें।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**जन्मनि, जन्मनि**	= जन्म-जन्मान्तरमें		अधिक
मूढाः	= (वे) मूढ़ मनुष्य	**आसुरीम्**	= आसुरी	**अधमाम्**	= अधम
माम्	= मुझे	**योनिम्**	= योनिको	**गतिम्**	= गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें
अप्राप्य	= प्राप्त न करके	**आपन्नाः**	= प्राप्त होते हैं,		
एव	= ही	**ततः**	= (फिर) उससे भी	**यान्ति**	= चले जाते हैं।

व्याख्या—**'आसुरीं योनिमापन्ना .... मामप्राप्यैव कौन्तेय'**—पीछेके श्लोकमें भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंको बार-बार पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें गिरानेकी बात कही। अब उसी बातको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मनुष्य-जन्ममें मुझे प्राप्त करनेका दुर्लभ अवसर पाकर भी वे आसुर मनुष्य मेरी प्राप्ति न करके पशु, पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चले जाते हैं और बार-बार उन आसुरी योनियोंमें ही जन्म लेते रहते हैं।

'मामप्राप्यैव' पदसे भगवान् पश्चात्तापके साथ कहते हैं कि अत्यन्त कृपा करके मैंने जीवोंको मनुष्यशरीर देकर इन्हें अपना उद्धार करनेका मौका दिया और यह विश्वास किया कि ये अपना उद्धार अवश्य कर लेंगे; परन्तु ये नराधम इतने मूढ़ और विश्वासघाती निकले कि जिस शरीरसे मेरी प्राप्ति करनी थी, उससे मेरी प्राप्ति न करके उलटे अधम गतिको चले गये!

मनुष्यशरीर प्राप्त हो जानेके बाद वह कैसा ही आचरणवाला क्यों न हो अर्थात् दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न हो, वह भी यदि चाहे तो थोड़े-से-थोड़े समयमें (गीता—नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक) और जीवनके अन्तकालमें (गीता—आठवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) भी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। कारण कि **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९) कहकर भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति सबके लिये अर्थात् प्राणिमात्रके लिये खुली रखी है। हाँ, यह बात हो सकती है कि पशु-पक्षी आदिमें उनको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है; परन्तु भगवान्‌की तरफसे तो किसीके लिये भी मना नहीं है। ऐसा अवसर सर्वथा प्राप्त हो जानेपर भी ये आसुर मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त न करके अधम गतिमें चले जाते हैं, तो इनकी इस दुर्गतिको देखकर परम दयालु प्रभु दुःखी होते हैं।

'ततो यान्त्यधमां गतिम्'—आसुरी योनियोंमें जानेपर भी उनके सभी पाप पूरे नष्ट नहीं होते। अतः उन बचे हुए पापोंको भोगनेके लिये वे उन आसुरी योनियोंसे भी भयंकर अधम गतिको अर्थात् नरकोंको प्राप्त होते हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि आसुरी योनियोंको प्राप्त हुए मनुष्योंको तो उन योनियोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं है और उनमें वह योग्यता भी नहीं है, फिर भगवान्‌ने ऐसा क्यों कहा कि वे मेरेको प्राप्त न करके उससे भी अधम गतिमें चले जाते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवान्‌का ऐसा कहना आसुरी योनियोंको प्राप्त होनेसे पूर्व मनुष्यशरीरको लेकर ही है। तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरको पाकर, मेरी प्राप्तिका अधिकार पाकर भी वे मनुष्य मेरी प्राप्ति न करके जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, वे उन आसुरी योनियोंसे भी नीचे कुम्भीपाक आदि घोर नरकोंमें चले जाते हैं।

विशेष बात

भगवत्प्राप्तिके अथवा कल्याणके उद्देश्यसे दिये गये मनुष्यशरीरको पाकर भी मनुष्य कामना, स्वार्थ एवं अभिमानके वशीभूत होकर चोरी-डकैती, झूठ-कपट, धोखा, विश्वासघात, हिंसा आदि जिन कर्मोंको करते हैं, उनके दो परिणाम होते हैं—(१) बाहरी फल-अंश और (२) भीतरी संस्कार-अंश। दूसरोंको दुःख देनेपर उनका (जिनको दुःख दिया गया है) तो वही नुकसान होता है, जो प्रारब्धसे होनेवाला है; परन्तु जो दुःख देते हैं, वे नया पाप करते हैं, जिसका फल नरक उन्हें भोगना ही पड़ता है। इतना ही नहीं, दुराचारोंके द्वारा जो नये पाप होनेके बीज बोये जाते हैं अर्थात् उन दुराचारोंके द्वारा अहंतामें जो दुर्भाव बैठ जाते हैं, उनसे मनुष्यका बहुत भयंकर नुकसान होता है। जैसे, चोरीरूप कर्म करनेसे पहले मनुष्य स्वयं चोर बनता है; क्योंकि वह चोर बनकर ही चोरी करेगा और चोरी करनेसे अपनेमें (अहंतामें) चोरका भाव दृढ़ हो जायगा*। इस प्रकार चोरीके संस्कार उसकी अहंतामें बैठ जाते हैं। ये संस्कार मनुष्यका बड़ा भारी पतन करते हैं—उससे बार-बार चोरीरूप पाप करवाते हैं और फलस्वरूप नरकोंमें ले जाते हैं। अतः जबतक वह मनुष्य अपना कल्याण नहीं कर लेता अर्थात् जबतक वह अपनी अहंतामें बैठाये हुए दुर्भावोंको नहीं मिटाता, तबतक वे दुर्भाव जन्म-जन्मान्तरतक दुराचारोंको बल देते रहेंगे, उकसाते रहेंगे और उनके कारण वे आसुरी योनियोंमें तथा उससे भी भयंकर नरक आदिमें दुःख, सन्ताप, आफत आदि पाते ही रहेंगे।

उन आसुरी योनियोंमें भी उनकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार यह देखा जाता है कि कई पशु-पक्षी, भूत-पिशाच, कीट-पतंग आदि सौम्य-प्रकृति-प्रधान होते हैं और कई क्रूर-प्रकृति-प्रधान होते हैं। इस तरह उनकी प्रकृति-(स्वभाव-) में भेद उनकी अपनी बनायी हुई शुद्ध या अशुद्ध अहंताके कारण ही होते हैं। अतः उन योनियोंमें अपने-अपने कर्मोंका फलभोग होनेपर भी उनकी प्रकृतिके भेद वैसे ही बने रहते हैं। इतना ही नहीं सम्पूर्ण योनियोंको और नरकोंको भोगनेके बाद किसी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे उनको मनुष्यशरीर प्राप्त हो भी जाता है, तो भी उनकी अहंतामें बैठे हुए काम-क्रोधादि दुर्भाव पहले-जैसे ही रहते

* **दुर्भावोंसे दुराचार पैदा होते हैं और दुराचारोंसे दुर्भाव पुष्ट होते हैं।**

हैं[१]। इसी प्रकार जो स्वर्गप्राप्तिकी कामनासे यहाँ शुभ कर्म करते हैं, और मरनेके बाद उन कर्मोंके अनुसार स्वर्गमें जाते हैं, वहाँ उनके कर्मोंका फलभोग तो हो जाता है, पर उनके स्वभावका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उनकी अहंतामें परिवर्तन नहीं होता[२]। स्वभावको बदलनेका, शुद्ध बनानेका मौका तो मनुष्य-शरीरमें ही है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि ये जीव मनुष्य-शरीरमें मेरी प्राप्तिका अवसर पाकर भी मुझे प्राप्त नहीं करते, जिससे मुझे उनको अधम योनिमें भेजना पड़ता है। उनका अधम योनिमें और अधम गति-(नरक-) में जानेका मूल कारण क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

कामः	= काम,	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकारके	**तस्मात्**	= इसलिये
क्रोधः	= क्रोध	**नरकस्य**	= नरकके	**एतत्**	= इन
तथा	= और	**द्वारम्**	= दरवाजे	**त्रयम्**	= तीनोंका
लोभः	= लोभ—	**आत्मनः**	= जीवात्माका	**त्यजेत्**	= त्याग कर देना चाहिये।
इदम्	= ये	**नाशनम्**	= पतन करनेवाले हैं,		

व्याख्या—**'कामः क्रोधस्तथा लोभस्त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम्'**—भगवान्‌ने पाँचवें श्लोकमें कहा था कि दैवी-सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये है। तो वह आसुरी-सम्पत्ति आती कहाँसे है? जहाँ संसारकी कामना होती है। संसारके भोग-पदार्थोंका संग्रह, मान, बड़ाई, आराम आदि जो अच्छे दीखते हैं, उनमें जो महत्त्वबुद्धि या आकर्षण है, बस, वही मनुष्यको नरकोंकी तरफ ले जानेवाला है। इसलिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये षड्रिपु माने गये हैं। इनमेंसे कहींपर तीनका, कहींपर दोका और कहींपर एकका कथन किया जाता है, पर वे सब मिले-जुले हैं, एक ही धातुके हैं। इन सबमें 'काम' ही मूल है; क्योंकि कामनाके कारण ही आदमी बँधता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? उसके उत्तरमें भगवान्‌ने 'काम' और 'क्रोध'—ये दो शत्रु बताये। परन्तु उन दोनोंमें भी **'एष'** शब्द देकर कामनाको ही मुख्य बताया; क्योंकि कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध आता है। यहाँ काम, क्रोध और लोभ—ये तीन शत्रु बताते हैं। तात्पर्य है कि भोगोंकी तरफ वृत्तियोंका होना 'काम' है और संग्रहकी तरफ वृत्तियोंका होना 'लोभ' है। जहाँ 'काम' शब्द अकेला आता है, वहाँ उसके अन्तर्गत ही भोग और संग्रहकी इच्छा आती है। परन्तु जहाँ 'काम' और 'लोभ'—दोनों स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ भोगकी

१-अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्। नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥
(चाणक्यनीति ७। १७)

'नरकसे आये हुए लोगोंमें ये लक्षण रहा करते हैं—अत्यन्त क्रोध, कटु वचन बोलना, दरिद्रता, स्वजनोंसे वैर, नीचोंका संग और कुलहीन-(नीच-) की सेवा।'

(कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा कुचैलता नीचजनेषु भक्तिः। अतीव रोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य॥)
(पद्मपुराण, सृष्टि० ५१। १३२)

२-स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे। दानप्रसंगो मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥
(चाणक्यनीति ७। १६)

'स्वर्गसे लौटकर मनुष्यलोकमें आये हुए लोगोंकी देहमें चार लक्षण रहा करते हैं—दान करनेमें प्रवृत्ति, मधुर वाणी बोलना, देवताओंका पूजन और ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट रखना।'

(स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि तेषां हृदये वसन्ति। दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥)
(पद्मपुराण, सृष्टि० ५१। १३१)

इच्छाको लेकर 'काम' और संग्रहकी इच्छाको लेकर 'लोभ' आता है और इन दोनोंमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है। जब काम, क्रोध और लोभ—तीनों अधिक बढ़ जाते हैं, तब 'मोह' होता है।

कामसे क्रोध पैदा होता है और क्रोधसे सम्मोह हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। यदि कामनामें बाधा न पड़े, तो लोभ पैदा होता है और लोभसे सम्मोह हो जाता है। वास्तवमें यह 'काम' ही क्रोध और लोभका रूप धारण कर लेता है। सम्मोह हो जानेपर तमोगुण आ जाता है। फिर तो पूरी आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है।

'**नाशनमात्मनः**'—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। जिनका उद्‌देश्य भोग भोगना और संग्रह करना होता है, वे लोग (अपनी समझसे) अपनी उन्नति करनेके लिये इन तीनों दोषोंको हितकारी मान लेते हैं। उनका यही भाव रहता है कि हमलोग काम आदिसे सुख पायेंगे, आरामसे रहेंगे, खूब भोग भोगेंगे। यह भाव ही उनका पतन कर देता है।

'**तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्**'—ये काम, क्रोध आदि नरकोंके दरवाजे हैं। इसलिये मनुष्य इनका त्याग कर दे। इनका त्याग कैसे करे? तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया है कि प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर राग (काम) और द्वेष (क्रोध) स्थित रहते हैं। साधकको चाहिये कि वह इनके वशीभूत न हो। वशीभूत न होनेका अर्थ है कि काम, क्रोध, लोभको लेकर अर्थात् इनके आश्रित होकर कोई कार्य न करे; क्योंकि इनके वशीभूत होकर शास्त्र, धर्म और लोकमर्यादाके विरुद्ध कार्य करनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भोग भोगना 'काम' है। संग्रह करना 'लोभ' है। भोग और संग्रहमें बाधा देनेवालेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों आसुरी-सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।

व्यक्ति और पदार्थ तो यहीं छूट जाते हैं, पर भीतरका भाव आसुर मनुष्योंको नरकोंमें ले जाता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् काम, क्रोध और लोभसे रहित होनेका माहात्म्य बताते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**विमुक्तः**	= रहित हुआ		करता है, (वह)
एतैः	= इन	**नरः**	= (जो) मनुष्य	**ततः**	= उससे
त्रिभिः,		**आत्मनः**	= अपने	**पराम्**	= परम
तमोद्वारैः	= नरकके तीनों दरवाजोंसे	**श्रेयः**	= कल्याणका	**गतिम्**	= गतिको
		आचरति	= आचरण	**याति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'**एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ...... ततो याति परां गतिम्**'—पूर्वश्लोकमें जिनको नरकका दरवाजा बताया गया है, उन्हीं काम, क्रोध और लोभको यहाँ 'तमोद्वार' कहा गया है। '**तम**' नाम अन्धकारका है, जो अज्ञानसे उत्पन्न होता है—'**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि**' (गीता १४। ८)। तात्पर्य है कि इन काम आदिके कारण 'मेरे साथ ये धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुरुष, घर-परिवार आदि पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे और अब भी इनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है; अतः इनमें ममता करनेसे आगे मेरी क्या दशा होगी' आदि बातोंकी तरफ दृष्टि जाती ही नहीं अर्थात् बुद्धिमें अन्धकार छाया रहता है। अतः इन काम आदिसे मुक्त होकर जो अपने कल्याणका आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। इसलिये साधकको इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि वह काम, क्रोध और लोभ—तीनोंसे सावधान रहे। कारण कि इन तीनोंको साथमें रखते हुए जो साधन करता है, वह वास्तवमें असली साधक नहीं है। असली साधक वह होता है, जो इन दोषोंको अपने साथ रहने ही नहीं देता। ये दोष उसको हर समय खटकते रहते हैं; क्योंकि इनको साथमें रहनेका अवसर देना ही बड़ी भारी गलती है।

मनुष्य साधनकी तरफ तो ध्यान देते हैं, पर साथमें जो काम-क्रोधादि दोष रहते हैं, उनसे हमारा कितना अहित

होता है—इस तरफ वे ध्यान कम देते हैं। इस कमीके कारण ही साधन करते हुए सदाचार भी होते रहते हैं और दुराचार भी होते रहते हैं; सद्‌गुण भी आते हैं और दुर्गुण भी साथ रहते हैं। जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि करके हम अपनेको शुद्ध बना लेंगे—ऐसा भाव साधकमें विशेष रहता है; परन्तु जो हमें अशुद्ध कर रहे हैं, उन दुर्गुण-दुराचारोंको हटानेका खयाल साधकमें कम रहता है, इसलिये—

आसुप्तेरामृते कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
न वा दद्यादवसरं कामादीनां मनागपि॥

नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक और जिस दिन पता लगे, उस दिनसे लेकर मौत आनेतक—सब-का-सब समय परमात्मतत्त्वके (सगुण-निर्गुणके) चिन्तनमें ही लगाये। चिन्तनके सिवाय काम आदिको किंचिन्मात्र भी अवसर न दे।

'एतैर्विमुक्तः' का यह मतलब नहीं है कि जब हम दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा छूट जायँगे, तब साधन करेंगे; किंतु साधकको भगवत्प्राप्तिका मुख्य उद्‌देश्य रखकर इनसे छूटनेका भी लक्ष्य रखना है। कारण कि झूठ, कपट, बेईमानी, काम, क्रोध आदि हमारे साथमें रहेंगे, तो नयी-नयी अशुद्धि—नये-नये पाप होते रहेंगे, जिससे साधनका साक्षात् लाभ नहीं होगा। यही कारण है कि वर्षोंतक साधनमें लगे रहनेपर भी साधक अपनी वास्तविक उन्नति नहीं देखते, उनको अपनेमें विशेष परिवर्तनका अनुभव नहीं होता। इन दोषोंसे रहित होनेपर शुद्धि स्वतःस्वाभाविक आती है। जीवमें अशुद्धि तो संसारकी तरफ लगनेसे ही आयी है, अन्यथा परमात्माका अंश होनेसे वह तो स्वतः ही शुद्ध है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

'श्रेयः आचरति' का तात्पर्य यह है कि काम, क्रोध और लोभ—इनमेंसे किसीको भी लेकर आचरण नहीं होना चाहिये अर्थात् असाधन-(निषिद्ध आचरण-) से रहित शुद्ध साधन होना चाहिये। भीतरमें कभी कोई वृत्ति आ भी जाय, तो उसको आचरणमें न आने दे। अपनी तरफसे तो (काम, क्रोधादिकी) वृत्तियोंको दूर करनेका ही उद्योग करे। अगर अपने उद्योगसे न दूर हों तो 'हे नाथ! हे नाथ!! हे नाथ!!!' ऐसे भगवान्‌को पुकारे। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

(विनय-पत्रिका १२५। २-३)

परिशिष्ट भाव—'एतैर्विमुक्तः'—काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्‌देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभकर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)।

काम-क्रोध-लोभके कारण धर्म और समाजकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, जिससे दुनियाका बड़ा अहित होता है। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य काम-क्रोध-लोभके परायण होते हैं। वे यज्ञ, दान आदि सब शुभकर्म नाममात्रके लिये करते हैं, अपने कल्याणके लिये कुछ नहीं करते। परन्तु दैवी-सम्पत्तिवाले साधक काम-क्रोध-लोभके वशमें न होकर अपने कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे दुनियाका स्वतः हित होता है। आसुरी मनुष्य ऐसे साधकोंको बेसमझ समझते हैं और इनसे द्वेष रखते हैं, पर इन साधकोंको उन आसुरी मनुष्योंपर दया आती है और वे उनको सद्‌बुद्धि देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

सम्बन्ध—जो अपने कल्याणके लिये शास्त्रविधिके अनुसार चलते हैं, उनको तो परमगतिकी प्राप्ति होती है, पर जो ऐसा न करके मनमाने ढंगसे आचरण करते हैं, उनकी क्या गति होती है—यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः	= जो मनुष्य	**सः**	= वह		(और)
शास्त्रविधिम्	= शास्त्रविधिको	**न**	= न	**न**	= न
उत्सृज्य	= छोड़कर	**सिद्धिम्**	= सिद्धि (अन्तः-करणकी शुद्धि)-को,	**पराम्**	= परम
कामकारतः	= अपनी इच्छासे मनमाना	**न**	= न	**गतिम्**	= गतिको (ही)
वर्तते	= आचरण करता है,	**सुखम्**	= सुख (शान्ति)-को	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—[सत्रहवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक भी इससे मिलता-जुलता है।]

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते'—जो लोग शास्त्रविधिकी अवहेलना करके शास्त्रविहित यज्ञ करते हैं, दान करते हैं, परोपकार करते हैं, दुनियाके लाभके लिये तरह-तरहके कई अच्छे-अच्छे काम करते हैं; परन्तु वह सब करते हैं—**'कामकारतः'*** अर्थात् शास्त्रविधिकी तरफ ध्यान न देकर अपने मनमाने ढंगसे करते हैं। मनमाने ढंगसे करनेमें कारण यह है कि उनके भीतर जो काम, क्रोध आदि पड़े रहते हैं, उनकी परवाह न करके वे बाहरी आचरणोंसे ही अपनेको बड़ा मानते हैं। तात्पर्य है कि वे बाहरके आचरणोंको ही श्रेष्ठ समझते हैं। दूसरे लोग भी बाहरके आचरणोंको ही विशेषतासे देखते हैं। भीतरके भावोंको, सिद्धान्तोंको जाननेवाले लोग बहुत कम होते हैं। परन्तु वास्तवमें भीतरके भावोंका ही विशेष महत्त्व है।

अगर भीतरमें दुर्गुण-दुर्भाव रहते हैं और बाहरसे बड़े भारी त्यागी-तपस्वी बन जाते हैं, तो अभिमानमें आकर दूसरोंकी ताड़ना कर देते हैं। इस प्रकार भीतरमें बढ़े हुए देहाभिमानके कारण उनके गुण भी दोषमें परिणत हो जाते हैं, उनकी महिमा निन्दामें परिणत हो जाती है, उनका त्याग रागमें, आसक्तिमें, भोगोंमें परिणत हो जाता है और आगे चलकर वे पतनमें चले जाते हैं। इसलिये भीतरमें दोषोंके रहनेसे ही वे शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करते हैं।

जैसे रोगी अपनी दृष्टिसे तो कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, पर वह आसक्तिवश कुपथ्य ले लेता है, जिससे उसका स्वास्थ्य और अधिक खराब हो जाता है। ऐसे ही वे लोग अपनी दृष्टिसे अच्छे-अच्छे काम करते हैं, पर भीतरमें काम, क्रोध और लोभका आवेश रहनेसे वे शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे काम करने लग जाते हैं, जिससे वे अधोगतिमें चले जाते हैं।

'न स सिद्धिमवाप्नोति'—आसुरी-सम्पदावाले जो लोग शास्त्र-विधिका त्याग करके यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, उनको धन, मान, आदर आदिके रूपमें कुछ प्रसिद्धिरूप सिद्धि मिल सकती है, पर वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप जो सिद्धि है, वह उनको नहीं मिलती।

'न सुखम्'—उनको सुख भी नहीं मिलता; क्योंकि उनके भीतरमें काम-क्रोधादिकी जलन बनी रहती है। पदार्थोंके संयोगसे होनेवाला सुख उन्हें मिल सकता है, पर वह सुख दुःखोंका कारण ही है अर्थात् उससे दुःख-ही-दुःख पैदा होते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक मार्गमें मिलनेवाला सात्त्विक सुख उनको नहीं मिलता।

'न परां गतिम्'—उनको परमगति भी नहीं मिलती। परमगति मिले ही कैसे? पहले तो वे परमगतिको मानते ही नहीं और यदि मानते भी हैं, तो भी वह उनको मिल नहीं सकती; क्योंकि काम, क्रोध और लोभके कारण उनके कर्म ही ऐसे होते हैं।

---

*(अ) यहाँ आये, 'कामकारतः वर्तते' (शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है) और पाँचवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें आये 'कामकारेण फले सक्तः' (भोगोंकी, पदार्थोंकी इच्छासे फलमें आसक्त हुआ)—दोनोंमें थोड़ा अन्तर है। 'कामकारतः' में क्रिया करनेमें उच्छृङ्खल वृत्ति है और 'कामकारेण' में भोगोंकी इच्छा है। तात्पर्य है कि 'कामकारतः' की दृष्टि क्रियाकी तरफ है और 'कामकारेण' की दृष्टि क्रियाके परिणाम-(फल-) की तरफ है कि परिणाममें मुझे अमुकामुक लाभ होगा। पर दोनोंमें मूल कारण तो 'काम' ही है।

(ब) एक बात ध्यान देनेकी है कि सातवें श्लोकसे लेकर इस तेईसवें श्लोकतक जो आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, उसमें कुल नौ बार 'काम' शब्द आया है; जैसे—१—'कामहैतुकम्' (१६।८), २—'काममाश्रित्य' (१६।१०), ३—'कामोपभोगपरमाः' (१६।११), ४—'कामक्रोधपरायणाः' (१६।१२), ५—'कामभोगार्थम्' (१६।१२), ६—'कामभोगेषु' (१६।१६), ७—'कामम्' (१६।१८), ८—'कामः' (१६।२१) और ९—'कामकारतः' (१६।२३)। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण 'काम' अर्थात् कामना ही है।

सिद्धि, सुख और परमगतिके न मिलनेका तात्पर्य यह है कि वे आचरण तो श्रेष्ठ करते हैं, जिससे उन्हें सिद्धि, सुख और परमगतिकी प्राप्ति हो सके; परन्तु भीतरमें काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि रहनेसे उनके अच्छे आचरण भी बुराईमें ही चले जाते हैं। इससे उनको उपर्युक्त चीजें नहीं मिलतीं। यदि ऐसा मान लिया जाय कि उनके आचरण ही बुरे होते हैं, तो भगवान्‌का **'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'**—ऐसा कहना बनेगा ही नहीं; क्योंकि प्राप्ति होनेपर ही निषेध होता है—**'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'**।

परिशिष्ट भाव—आसुर मनुष्य अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं—**'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'** (गीता १६। १४), पर वास्तवमें वे सिद्ध और सुखी होते नहीं—**'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखम्'**। उनके हृदयमें अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है!

सम्बन्ध—शास्त्रविधिका त्याग करनेसे मनुष्यको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्	= अतः	**प्रमाणम्**	= प्रमाण है	**कर्म**	= कर्तव्य-कर्म
ते	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= (—ऐसा) जानकर (तू)	**कर्तुम्**	= करने
कार्याकार्य-व्यवस्थितौ	= कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें	**इह**	= इस लोकमें	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।
शास्त्रम्	= शास्त्र (ही)	**शास्त्र-विधानोक्तम्**	= शास्त्रविधिसे नियत		

व्याख्या—**'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ'**—जिन मनुष्योंको अपने प्राणोंसे मोह होता है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यको न जाननेसे विशेषरूपसे आसुरी-सम्पत्तिमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये तू कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये शास्त्रको सामने रख।

जिनकी महिमा शास्त्रोंने गायी है और जिनका बर्ताव शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार होता है, ऐसे संत-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रोंके अनुसार ही चलना है। कारण कि उन महापुरुषोंने शास्त्रोंको आदर दिया है और शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे ही वे श्रेष्ठ पुरुष बने हैं। वास्तवमें देखा जाय तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदिसे ही शास्त्र बनते हैं।

'शास्त्रं प्रमाणम्' का तात्पर्य यह है कि लोक-परलोकका आश्रय लेकर चलनेवाले मनुष्योंके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है।

'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि*'—प्राणपोषण-परायण मनुष्य शास्त्रविधिको (कि किसमें प्रवृत्त होना है और किससे निवृत्त होना है) नहीं जानते (गीता— सोलहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक); इसलिये उनको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू तो दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है; अतः तू शास्त्रविधिको जानकर कर्तव्यका पालन करनेयोग्य है।

अर्जुन पहले अपनी धारणासे कहते थे कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा, जबकि भाग्यशाली श्रेष्ठ क्षत्रियोंके लिये अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गको देनेवाला है (गीता—दूसरे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। भगवान् कहते हैं कि भैया! तू पाप-पुण्यका निर्णय अपने मनमाने ढंगसे कर रहा है; तुझे तो इस विषयमें शास्त्रको प्रमाण

*** यहाँ 'इह' पद देनेका तात्पर्य है कि इस संसारमें मनुष्य-शरीर केवल श्रेष्ठ कर्म करके परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ही मिला है। अतः यह अवसर कभी वृथा न जाने दे।**

रखना चाहिये। शास्त्रकी आज्ञा समझकर ही तुझे कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि युद्धरूप क्रिया बाँधनेवाली नहीं है, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान रखकर की हुई शास्त्रीय क्रिया (यज्ञ, दान आदि) ही बाँधनेवाली होती है; और मनमाने ढंगसे (शास्त्र-विपरीत)-की हुई क्रिया तो पतन करनेवाली होती है।

स्वत: प्राप्त युद्धरूप क्रिया क्रूर और हिंसारूप दीखती हुई भी पापजनक नहीं होती (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि स्वभावनियत कर्म करता हुआ सर्वथा स्वार्थरहित मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनके स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार कर्म करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। पाप लगता है—स्वार्थसे, अभिमानसे और दूसरोंका अनिष्ट सोचनेसे।

मनुष्य-जन्मकी सार्थकता यही है कि वह शरीर-प्राणोंके मोहमें न फँसकर केवल परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे शास्त्रविहित कर्मोंको करे।

परिशिष्ट भाव—सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं, उनको कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? इसका समाधान है कि अगर उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वत: होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उल्टे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्याय:॥ १६॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १६॥

इस (सोलहवें) अध्यायका नाम 'दैवासुरसम्पद्-विभागयोग' है; क्योंकि इस अध्यायमें जो दोनों सम्पत्तियोंका वर्णन हुआ है, वह परस्पर एक-दूसरेसे बिलकुल विरुद्ध है अर्थात् दैवी-सम्पत्ति कल्याण करनेवाली है और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली तथा नीच योनियों और नरकोंमें ले जानेवाली है। जो साधक इन दोनों विभागोंको ठीक रीतिसे जान लेगा, वह आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग कर देगा। आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट हो जायगी। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होते ही एकमात्र परमात्मासे सम्बन्ध रह जायगा।

सोलहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ षोडशोऽध्याय:**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके दो सौ सत्तासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ पाँच है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ षोडशोऽध्याय:**' के सात, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके सात सौ अड़सठ और पुष्पिकाके बावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग आठ सौ चौंतीस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है— '**श्रीभगवानुवाच**।'

सोलहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौबीस श्लोकोंमेंसे—छठे श्लोकके प्रथम चरणमें, दसवें श्लोकके तृतीय चरणमें और बाईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; तथा ग्यारहवें, तेरहवें और उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष अठारह श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।